श्रीवीरशासनसंघ-ग्रन्थमाला

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश

प्रथम खण्ड

लेखक

श्री जुगलकिशोर मुख़्तार 'युगवीर'

संस्थापक 'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरसावा, जिला सहारनपुर

['ग्रन्थ-परीक्षा' आदिके लेखक; स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीन-धर्मशास्त्रादि ग्रन्थोंके विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार; अनेकान्तादि-पत्रों और समाधितन्त्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक]

प्रकाशक

श्रीवीर-शासन-संघ, कलकत्ता

आषाढ़, वीर-निर्वाण सं० २४८२, विक्रम सं० २०१३

प्रथम संस्करण] जुलाई १९५६ [एक हजार प्रति

प्रकाशक
छोटेलाल जैन
मंत्री 'श्रीवीर-शासन-संघ'
२६, इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता ३७

प्राप्ति स्थान
(१) वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज, देहली

(२) वीर-शासन-संघ
२६, इन्द्रविश्वास रोड, कलकत्ता ३७

मुद्रक
सन्मति प्रेस
२३०, गली कुञ्जस, दरीबा कलाँ
देहली

प्रकाशकीय

'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामक ग्रन्थका यह प्रथम खण्ड पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इसमें प्राच्य-विद्या-महार्णव आचार्यश्री जुगलकिशोरजी मुख्तारके उन लेखोंका संग्रह है, जो समय समय पर अनेकान्तादि पत्रोंमें और अनेक स्व-पर-सम्पादित ग्रंथों की प्रस्तावनाओंमें प्रगट होते रहे हैं। लेखोंकी संख्या इतनी अधिक है, कि यह संग्रह कई खण्डोंमें प्रकाशित करना होगा। इस प्रथम खण्डमें ही ७५० के लगभग पृष्ठ हो गये हैं। दूसरे खण्डोंमें भी प्राय: इतने इतने ही पृष्ठोंकी संभावना है।

इतिहास-अनुसंधाताओं और साहित्यिकोंके लिए नई नई खोजों एवं गवेषणाओंको लिए हुए ये लेख बहुत ही उपयोगी हैं, और नित्य के उपयोगमें आनेकी चीज हैं अर्थात् एक अच्छी Reference book के रूपमें स्थित हैं अतएव इन सब लेखोंको एकत्रित कर पुस्तकके रूपमें निकालनेकी अतीव आवश्यकता थी। पं० नाथूरामजी प्रेमीके जैन साहित्य और इतिहास विषयक लेखोंका एक संग्रह कुछ वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था। वह कितना उपयोगी सिद्ध हुआ, इसे उपयोगमें लाने वाले विद्वान् जानते हैं। इस संग्रहमें उस संग्रह के कुछ लेखों पर भी कितना ही नया तथा विशद प्रकाश डाला गया है। जैनोंके प्रामाणिक इतिहासके निर्माणमें इस प्रकारकी पुरातत्त्व सामग्रीकी अतीव आवश्यकता है। जैनसमाजमें इस प्रकारके युग-प्रवर्तक विद्वानोंमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और पं० नाथूरामजी प्रेमीके नाम ही अग्रगण्य हैं। अत: इन दोनों प्राक्तनविमर्श-विचक्षण विद्वानोंका भारतीय समाज सामान्यत: और जैन समाज विशेषत: ऋणी हैं।

इन लेखोंको पढ़ते हुए पाठकोंको ज्ञात होगा, कि इनके निर्माण में लेखक को कितने अधिक श्रम, गम्भीर चिन्तन, अनुभवन, मनन, एवं शोध-खोज से काम लेना पड़ा है। यद्यपि श्री मुख्तार सा० की लेखनशैली कुछ लम्बी होती है पर वह बहुत जँची-तुली, पुनरावृत्तियों से रहित और विषयको स्पष्ट करने वाली होनेसे अनुसंधान-शिक्षार्थियोंके लिए अतीव उपयोगी पड़ती है और सदा मार्ग-दर्शकके रूपमें बनी रहती है। इन लेखोंसे अब हमारे इतिहासकी कितनी ही उलझनें सुलझ गई हैं। साथ ही अनेक नये विषयोंके अनुसंधान का क्षेत्र भी प्रशस्त हो गया है। कितने ही ऐसे ग्रथोंके नाम भी उपलब्ध हुए हैं, जिनके कुछ उद्धरण तो प्राप्त हैं, पर उन ग्रंथोंके अस्तित्वका अभी तक पता नहीं चला। नाम-साम्य को लेकर जो कितनी ही भ्रान्तियां उपस्थित की जा रही थीं या प्रचलित हो रही थीं, उन सबका निरसन भी इन सब लेखोंसे हो जाता है।

यद्यपि हमारा विशाल प्राचीन साहित्य कई कारणोंसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, फिर भी जो कुछ अवशिष्ट और उपलब्ध है, उसमें भी साहित्य इतिहास और तत्वज्ञानकी अनुसन्धान-योग्य बहुत कुछ सामग्री सन्निहित है, अतः उस परसे हमें प्राचीन साहित्यादिके अनुसंधान करनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह कार्य तभी संभव हो सकता है, जबकि हम सर्व प्रथम अपने आचार्योंका समय निर्धारित कर लेवें। तत्पश्चात् हम उनके साहित्यसे अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा-विज्ञानके सम्बन्धमें अनेक अमूल्य विषयोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अतः हमें उन विलुप्त ग्रंथोंकी खोजका भी पूरा यत्न करना होगा, तभी सफलता मिल सकेगी।

भारतके प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलालजी नेहरूने अपने एक व्याख्यानमें कहा था कि 'अगर कोई जाति अपने साहित्य-उन्नयनकी उपेक्षा करती है तो बड़ी से बड़ी धन-राशि भी उस जाति (Nation) के उत्कर्षमें सहायक नहीं हो सकती है। साहित्य मनुष्यकी उन्नतिका सबसे बड़ा साधन है।

कोई राष्ट्र, कोई धर्म अथवा कोई समाज साहित्य के बिना जीवित नहीं रह सकता, या यों कहिये कि साहित्यके बिना राष्ट्र धर्म एवं समाजकी कल्पना ही असंभव है। सुप्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलने कहा है, कि 'ईसाई

धर्मके जीनेका कारण 'बाइबिल' है, यदि बाईबिल न होती तो ईसाई धर्म कभी भी जीवित न रह पाता'।

भाषा किसी देशके निवासियोंके मनोविचारोंको प्रगट करने का साधन मात्र ही नहीं होती, किन्तु उन देशवासियोंकी संस्कृति का संरक्षण करने वाली भी होती है। साहित्यके अन्दर प्रादुर्भूत हो कर कोई भी भाषा ज्ञान-का संचित कोष एवं संस्कृतिका निर्मल दर्पण बन जाती है। राष्ट्रको महान् बनानेके लिये हमें नअपनी गौरवमय अतीत संस्कृतिका ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

साहित्यकी तरह इतिहास भी कम महत्वकी वस्तु नहीं है। हम लोगोंमें इतिहास-मूलक ज्ञानका एक प्रकारसे अभाव सा हो गया है। हमारी कितनी ही महत्वकी साहित्यिक रचनाओंमें समय और कर्ताका नाम तक भी उप-लब्ध नहीं है। सामाजिक संस्कृतिकी रक्षाके लिये ऐतिहासिक ज्ञान और भी आवश्यक है। पुरातत्वके अध्ययनके लिये मानव-विकासका ज्ञान अनिवार्य है, और यह तभी संभव है जब कि हम अपने साहित्यका समयानुक्रम दृष्टिसे अध्ययन करनेमें प्रवृत्त हों।

इतिहाससे ही हम अपने पूर्वजों उत्थान और पतनके साथ साथ उनके कारणोंको भी ज्ञात कर उनसे यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं।

हमें अपने पूर्व महापुरुषोंकी स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखना होगा. जिससे हमारी संतानके समक्ष अनुसरण करनेके लिये समुचित आदर्श रहे। साथ ही अपने पूर्वजोंमें श्रद्धा बढ़ानेके लिये यह भी आवश्यक है कि हम उनके साहित्य एवं अन्य कृतियों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें।

किसी भी देशका, धर्मका और जातिका भूतकालीन इतिहास उसके वर्तमान और भविष्यको सुगठित करनेके लिये एक समर्थ साधन है। इतिहास, ज्ञानकी अन्य शाखाओंकी भांति, सत्यको और तथ्यपूर्ण घटनाओंको प्रकाशित करता है, जो साधारणतः आँखोंसे ओझल होती हैं।

इस संग्रहको प्रगट करनेके लिये मैं कई वर्षोंसे चेष्टा कर रहा था, और श्रीमुख्तार सा० से कई बार निवेदन भी किया गया कि वे अपने लेखोंकी पुनरावृत्तिके लिये एक बार उन्हें सरसरी नजरसे देख जायं, और जहां कहीं संशोधनादिकी जरूरत हो उसे कर देवें। पर उन्हें अनवकाशकी बराबर

शिकायत बनी रहनेके कारण यह काम इससे पहिले सम्पन्न नहीं हो सका, अस्तु ।

आज इस चिरप्रतीक्षित लेखसंग्रहके प्रथम खण्डको पाठकोंके समक्ष रखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । आशा है पाठक इस महत्त्वपूर्ण लेखसंग्रहसे यथोचित लाभ उठाने में समर्थ होंगे ।

अन्तमें मैं इतना और भी प्रगट कर देना चाहता हूं, कि इस संग्रहमें ३२ लेखों–निबन्धोंका संग्रह है जैसा कि लेख-सूची*से प्रगट है । अन्तका 'समन्तभद्रका समयनिर्णय' नामका ३२वां लेख मुख्तारसा०की हालकी नई रचना है, वह उस समयसे पहिले नहीं लिखा जा सका जो उसपर दिया हुआ है, और इसीसे उसे समन्तभद्र-सम्बन्धी लेखोंके सिलसिलेमें नहीं दिया जा सका । उसके पूर्ववर्ती लेखपर भी जो नम्बर ३२ पड़ा है वह छपनेकी गलतीका परिणाम है, "छपने में २६के बाद लेखों पर २८ आदि नम्बर पड़ गये हैं, जबकि वे २७ आदि होने चाहिये और तदनुसार सुधार किये जानेके योग्य हैं ।

कलकत्ता	छोटेलाल जैन
ज्येष्ठ सुदी ५ (श्रुतपञ्चमी)	मंत्री—श्रीवीरशासनसंघ
वीर नि० सम्वत् २४८२	कलकत्ता

* इस सूचीमें यह भी सूचित कर दिया गया है कि कौन लेख प्रथमत: कब-कहां प्रकाशित हुआ है और जिन लेखोंका निर्माण-काल मालूम हो सका है उनका वह समय भी लेखके अनन्तर दे दिया गया है ।

लेख-सूची

१ भगवान् महावीर और उनका समय १
(अनेकान्त वर्ष १ मंगसिर वीर सं०२४५६)

२ वीर-निर्वाण-सम्वत्की समालोचना पर विचार ४५
(अनेकान्त वर्ष ४ नवम्बर १९४७)

३ वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान (अने० १९४३) ५७

४ जैन तीर्थंकरोंका शासन-भेद (जैनहितैषी वर्ष१२ अगस्त १९१६) ६७

५ श्रुतावतार-कथा (वीर अक्टूबर १९३६) ८०

६ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और उनके ग्रन्थ, दिसम्बर १९४८ ८६
(पुरातन जैनवाक्य-सूची-प्रस्तावना सन् १९५०)

७ तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता कुन्दकुन्द (अने०वर्ष१ वीरसम्वत्२४५६) १०२

८ उमास्वाति या उमास्वामी (अने० वर्ष १ वीरसं० २४५६) १०६

९ तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति (अने० वर्ष १ वीर सम्वत् २४५६) १०९

१० तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी एक सटिप्पण प्रति, ११ नवम्बर १९३९ ११२
(अने० वर्ष ३ वीर सं० २४६६)

११ श्वे० तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जांच, १२५
१८ जुलाई १९४२ (अने० वर्ष ५ सन् १९४२)

१२ स्वामी समन्तभद्र, वैशाख शुक्ल २ सम्वत् १९८२ १४९
(रत्नक० प्रस्तावना-स्वामी समन्तभद्र)

१३ समन्तभद्रका मुनि-जीवन और आपत्काल २०७

१४ समन्तभद्रका एक और परिचय पद्य, २ दिसम्बर १९४४ २४१
(अने० वर्ष ७ सन् १९४४)

१५ स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे २४५
२७ दिसम्बर १९४४ (अने० वर्ष ७ सन् १९४४)

१६ समन्तभद्रके ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय (रत्नक० प्रस्ता०) २५८

१७ गंधहस्ति महाभाष्यकी खोज, बैशाख सुदि २ सं०१९८२ २७१
(जैनहितैषी १९२० रत्न० प्रस्तावना सन् १९२५)

१८ समन्तभद्रका समय और डाक्टर के० बी० पाठक २९७
(जैनजगत वर्ष ९ जुलाई सन् १९३४)

१९ सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव (अने०दिसम्बर १९४२) ३२३
२० समन्तभद्रकी स्तुतिविद्या (स्तुतिविद्या-प्रस्तावना जुलाई १९५०) ३४०
२१ समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र(स्वयम्भूस्तोत्र-प्रस्तावना जुलाई५१) ३५८
२२ समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन (युक्त्यनु० प्र० जुलाई १९५१) ४२१
२३ रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय ४३१
२१ अप्रैल १९४८ (अने० वर्ष ९ सन् १९४८)
२४ भगवती आराधना, दिसम्बर १९४८ ४८४
(पुरा० जैन वाक्यसूची-प्रस्तावना)
२५ भगवती आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियाँ ४८७
१० अगस्त १९३८ (अने० वर्ष २ वीर सं० २४६५)
२६ कार्तिकेयानुप्रेक्षा और स्वामिकुमार, दिसम्बर १९४८ ४९२
(पुरा० जैन वाक्यसूची-प्रस्तावना)
२७ सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन, ३१ दिसम्बर १९४८ ५०१
(अने० वर्ष ९, दिसम्बर १९४८)
२८ तिलोयपण्णत्ती और यतिवृषभ,दिसम्बर १९४८ ५८६
(पुरा० जैनवाक्यसूची प्रस्तावना)
२९ स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द, १६ दिसम्बर १९२९ ६३७
(अने० वर्ष १ वीर सं० २४५६)
" द्वितीय लेख, १७ जुलाई १९३९ (अने० वर्ष २) ६५८
३० कदम्बवंशीय राजाओंके तीन ताम्रपत्र (जैनहि० जून १९२०) ६६८
३१ आर्य और म्लेच्छ, १७ दिसम्बर १९३८ (अने० वर्ष २) ६७८
३२ समन्तभद्रका समय-निर्णय, मगसिर सुदि ५ सं० २०१२ ६८९

परिशिष्ट

१ काव्य-चित्रोंका सोदाहरण परिचय ६९८
२ स्वयम्भू-स्तवन -छन्द-सूची ७०७
३ अर्हत्सम्बोधन-पदावली ७०९
४ नामानुक्रमणी ७१३

Religious Book Distribution Fund
C/o ... महावीर ...
1325 ... चौक, देहली-110006

१

भगवान महावीर और उनका समय

शुद्धिशक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमुत्तमाम् ।
देशयामास सद्धर्मं महावीरं नमामि तम् ॥

महावीर-परिचय

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विदेह (विहार) देशस्थ कुण्डपुर * के राजा 'सिद्धार्थ'के पुत्र थे और माता 'प्रियकारिणी'के गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम 'त्रिशला' भी था और जो वैशालीके राजा 'चेटक' की सुपुत्री † थी। आपके शुभ जन्मसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवोंके लिये पर्वका-सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथिको जन्म-समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, जिसे कहीं कहीं 'हस्तोत्तरा' (हस्त नक्षत्र है

---

* श्वेताम्बर सम्प्रदायके कुछ ग्रन्थोंमें 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो संभवतः कुण्डपुरका एक मुहल्ला जान पड़ता है। अन्यथा, उसी सम्प्रदायके दूसरे ग्रन्थोंमें कुण्डग्रामादि-रूपसे कुण्डपुरका साफ़ उल्लेख पाया जाता है। यथा:—

"हत्थुत्तराहिं जाओ कुंडग्गामे महावीरो।" आ० नि० भा०

यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है, जो कि वास्तवमें वैशालीका उपनगर था।

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें 'बहन' लिखा है।

उत्तरमें–अनन्तर–जिसके) इस नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थान पर स्थित थे; जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

चैत्र-सितपक्ष-फाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ५ ॥

—निर्वाणभक्ति

तेजःपुञ्ज भगवान्के गर्भमें आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनोंकी श्रीवृद्धि हुई—उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा—माताकी प्रतिभा चमक उठी, वह सहज ही में अनेक गूढ प्रश्नोंका उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्तिका अधिक अनुभव करने लगे । इससे जन्मकालमें आपका सार्थक नाम 'वर्द्धमान' रक्खा गया । साथ ही, वीर महावीर और सन्मति जैसे नामोंकी भी क्रमशः सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होनेवाले गुणों पर ही एक आधार रखते हैं * ।

महावीरके पिता 'णात' वंशके क्षत्रिय थे । 'णात' यह प्राकृत भाषाका शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकारसे भी लिखा जाता है । संस्कृतमें इसका पर्यायरूप होता है 'ज्ञात' । इसीसे 'चारित्रभक्ति' में श्री पूज्यपादाचार्यने "श्री-मज्ज्ञातकुलेन्दुना" पदके द्वारा महावीर भगवान्को 'ज्ञात' वंशका चन्द्रमा लिखा है, और इसीसे महावीर 'णातपुत' अथवा 'ज्ञातपुत्र' भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी उल्लेख पाया जाता है । इस प्रकार वंशके ऊपर नामोंका उस समय चलन था—बुद्धदेव भी अपने वंश परसे 'शाक्यपुत्र' कहे जाते थे । अस्तु; इस 'नात' का ही बिगड़ कर अथवा लेखकों या पाठकोंकी नासमझीकी वजहसे बादको 'नाथ' रूप हुआ जान पड़ता है । और इसीसे कुछ ग्रन्थोंमें महावीरको नाथवंशी लिखा हुआ मिलता है, जो ठीक नहीं है ।

महावीरके बाल्यकालकी घटनाओंमेंसे दो घटनाएँ खास तौरसे उल्लेखयोग्य हैं—एक यह कि, संजय और विजय नामके दो चारण-मुनियोंको तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी संदेह उत्पन्न हो गया था, जन्मके कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शनमात्रसे उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इस-

* देखो, गुणभद्राचार्यकृत महापुराणका ७४वाँ पर्व ।

लिए उन्होंने बड़ी भक्तिसे आपका नाम 'सन्मति' रक्खा ॐ। दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुतसे राजकुमारोंके साथ वनमें वृक्षक्रीड़ा कर रहे थे, इतनेमें वहाँ पर एक महाभयंकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्षको ही मूलसे लेकर स्कंध पर्यन्त बेढ़कर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूपको देखकर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशामें वृक्षों परसे गिरकर अथवा कूद कर अपने अपने घरको भाग गये। परन्तु आपके हृदयमें जरा भी भयका संचार नहीं हुआ—आप बिलकुल निर्भयचित्त होकर उस काले नागसे ही क्रीड़ा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रमसे उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्तसे आप लोकमें 'महावीर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इन दोनों† घटनाओंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि महावीरमें बाल्यकालसे ही बुद्धि और शक्तिका असाधारण विकास हो रहा था और इस प्रकारकी घटनाएँ उनके भावी असाधारण व्यक्तित्वको सूचित करती थीं। सो ठीक ही है—

"होनहार बिरवानके होत चीकने पात।"

प्रायः तीस वर्षकी अवस्था हो जाने पर महावीर संसार-देहभोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हें अपने आत्मोत्कर्षको साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करनेकी ही नहीं किन्तु संसारके जीवोंको सन्मार्गमें लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा बजानेकी एक विशेष लगन लगी—दीन दुखियोंकी पुकार उनके हृदयमें घर कर गई—और इसलिये उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवासको उचित न समझकर, जंगलका रास्ता लिया, संपूर्ण राज्यवैभवको ठुकरा दिया और इन्द्रिय-

ॐ संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः॥
तत्संदेहगते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः॥

—महापुराण, पर्व ७४वाँ

† इनमेंसे पहली घटनाका उल्लेख प्रायः दिगम्बर ग्रन्थोंमें और दूसरीका दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें बहुलतासे पाया जाता है।

सुखोंसे मुख मोड़कर मंगसिरवदि १० मीको 'ज्ञातखंड' नामक वनमें जिनदीक्षा धारण करली। दीक्षाके समय आपने संपूर्ण परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहणकिया, अपने शरीर परसे वस्त्राभूषणोंको उतार कर फेंक दिया † और केशोंको क्लेशसमान समझते हुए उनका भी लौंच कर डाला। अब आप देहसे भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंहकी तरह निर्भय होकर जंगल-पहाड़ोंमें विचरते थे और दिन रात तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष सिद्धि और विशेष लोकसेवाके लिये विशेष ही तपश्चरणकी जरूरत होती है—तपश्चरण ही रोम-रोममें रमे हुए आन्तरिक मलको छाँट कर आत्मा-को शुद्ध, साफ़, समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसीलिये महावीरको बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करना पड़ा—खूब कड़ा योग साधना पड़ा—तब कहीं जाकर आपकी शक्तियोंका पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरणकी कुछ घटनाओंको मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, सुदृढ़ आत्मविश्वास, अनुपम साहस और लोकोत्तर क्षमाशीलताको देखकर हृदय भक्तिसे भर आता है और खुद-बखुद (स्वयमेव) स्तुति करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु; मन:पर्ययज्ञानकी प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेनेके बाद ही होगई थी परन्तु केवलज्ञान-ज्योतिका उदय बारह वर्षके उग्र तपश्चरणके बाद वैशाख सुदि १० मी को तीसरे पहरके समय उस वक्त हुआ जब कि आप जृम्भका ग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके किनारे, शाल वृक्षके नीचे एक शिला पर, षष्ठोपवाससे युक्त हुए, क्षपकश्रेणि पर आरूढ थे—आपने शुक्ल-ध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था *।

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें इतना विशेष कथन पाया जाता है और वह संभवतः साम्प्रदायिक जान पड़ता है कि, वस्त्राभूषणोंको उतार डालनेके बाद इन्द्रने 'देवदूश्य' नामका एक बहुमूल्य वस्त्र भगवान्के कन्धे पर डाल दिया था, जो १३ महीने तक पड़ा रहा। बादको महावीरने उसे भी त्याग दिया और वे पूर्णरूपसे नग्न-दिगम्बर अथवा जिनकल्पी हो रहे।

* केवलज्ञानोत्पत्तिके समय और क्षेत्रादिका प्रायः यह सब वर्णन 'धवल' और 'जयधवल' नामके दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंमें उद्धृत तीन प्राचीन गाथाओंमें भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

> ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान् प्रविजहार ।
> उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥१०॥
> ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
> अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
> वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
> क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥
>
> —निर्वाणभक्ति

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि-द्वारा, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय नामके घातिकर्म-मलको दग्ध करके, महावीर भगवान्ने जब अपने आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य नामके स्वाभाविक गुणोंका पूरा विकास अथवा उनका पूर्ण रूपसे आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँच गये, अथवा यों कहिये कि आपको स्वात्मोपलब्धिरूप 'सिद्धि' की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकारसे समर्थ होकर ब्रह्मपथका नेतृत्व ग्रहण किया और संसारी जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिये—उन्हें उनकी भूल सुझाने, बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दुःख मिटानेके लिये—अपना विहार प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि लोकहित-साधनाका जो असाधारण विचार आपका वर्षोंसे चल रहा था और जिसका गहरा संस्कार जन्मजन्मान्तरोंसे आपके आत्मामें पड़ा हुआ था वह अब संपूर्ण रुकावटोंके दूर हो जाने पर स्वतः कार्यमें परिणत हो गया।

विहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेशके लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैनसाहित्यमें 'समवसरण' नामसे

गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासे य ।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ॥१॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे वहिं सिलावट्टे ।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायछायाए ॥२॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवगसेढिमारुढो ।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥३॥

उल्लेखित किया गया है उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिये मुक्त रहता था, कोई किसीके प्रवेशमें बाधक नहीं होता था—पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते थे, जाति-पाँति छूताछूत और ऊँचनीचका उसमें कोई भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्यजातिमें परिगणित होते थे, और उक्त प्रकारके भेदभावको भुलाकर आपसमें प्रेमके साथ रल-मिलकर बैठते और धर्मश्रवण करते थे—मानों सब एक ही पिताकी संतान हों। इस आदर्शसे समवसरणमें भगवान् महावीरकी समता और उदारता मूर्तिमती नजर आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर बेहद संतुष्ट होते थे जो समाजके अत्याचारोंसे पीड़ित थे, जिन्हें कभी धर्मश्रवणका, शास्त्रोंके अध्ययनका, अपने विकासका और उच्चसंस्कृतिको प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नहीं समझे जाते थे। इसके सिवाय, समवसरणकी भूमिमें प्रवेश करते ही भगवान् महावीरके सामीप्यसे जीवोंका वैरभाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। इसीसे सर्पको नकुल या मयूरके पास बैठनेमें कोई भय नहीं होता था, चूहा बिना किसी संकोचके बिल्लीका आलिंगन करता था, गौ और सिंही मिलकर एक ही नाँदमें जल पीती थीं और मृग-शावक खुशीसे सिंह-शावकके साथ खेलता था। यह सब महावीरके योगबलका माहात्म्य था। उनके आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिये उनके संनिकट अथवा उनकी उपस्थितिमें किसी-का वैर स्थिर नहीं रह सकता था। पतंजलि ऋषिने भी, अपने योगदर्शनमें, योगके इस माहात्म्यको स्वीकार किया है; जैसा कि उसके निम्न सूत्रसे प्रकट है:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

जैनशास्त्रोंमें महावीरके विहारसमयादिककी कितनी ही विभूतियोंका—अतिशयोंका—वर्णन किया गया है। परन्तु उन्हें यहाँ पर छोड़ा जाता है। क्योंकि स्वामी समन्तभद्रने लिखा है:—

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात्—देवोंका आगमन, आकाशमें गमन और चामरादिक (दिव्य चमर, छत्र, सिंहासन, भामंडलादिक) विभूतियोंका अस्तित्व तो मायावियोंमें—इन्द्रजालियोंमें—भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान् नहीं मानते और न इनकी वजहसे आपकी कोई ख़ास महत्ता या बड़ाई ही है।

भगवान् महावीरकी महत्ता और बड़ाई तो उनके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक कर्मोंका नाश करके परमशान्तिको लिये हुए * शुद्धि तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचने और ब्रह्मपथका—अहिंसात्मक मोक्षमार्गका—नेतृत्व ग्रहण करनेमें है—अथवा यों कहिये कि आत्मोद्धारके साथ-साथ लोककी सच्ची सेवा बजानेमें है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥

—युक्त्यनुशासन

महावीर भगवान्‌ने प्रायः तीस वर्ष तक लगातार अनेक देश-देशान्तरोंमें विहार करके सन्मार्गका उपदेश दिया, असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध कराया, तत्त्वार्थको समझाया, भूलें दूर कीं, भ्रम मिटाए, कमज़ोरियाँ हटाईं, भय भगाया, आत्मविश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डबल घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितोंको उठाया, अन्याय-अत्याचारको रोका, हिंसाका विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बन तथा संयमकी शिक्षा दे कर उन्हें आत्मोत्कर्षके मार्ग पर लगाया। इस तरह आपने लोकका अनन्त उपकार किया है और आपका यह विहार बड़ा ही उदार, प्रतापी एवं यशस्वी हुआ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रके स्वयंभूस्तोत्रमें '**गिरिभित्त्यवदानवतः**' इत्यादि पद्यके द्वारा इस विहारका यत्किंचित् उल्लेख करते हुए, उसे "**ऊर्जितं गतं**" लिखा है।

---

* ज्ञानावरण-दर्शनावरणके अभावसे निर्मल ज्ञान-दर्शनकी आविर्भूतिका नाम 'शुद्धि' और अन्तराय कर्मके नाशसे वीर्यलब्धिका होना 'शक्ति' है और मोहनीय कर्मके अभावसे अतुलित सुखकी प्राप्तिका होना 'परमशान्ति' है।

भगवान्‌का यह विहार-काल ही प्राय: उनका तीर्थ-प्रवर्तनकाल है, और इस तीर्थ-प्रवर्तनकी वजहसे ही वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं * । आपके विहारका पहला स्टेशन राजगृहीके निकट विपुलाचल तथा वैभार पर्वतादि पंच पहाड़ियों-का प्रदेश जान पड़ता है † जिसे धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें क्षेत्ररूपसे महावीरका अर्थकर्तृत्व प्ररूपण करते हुए, 'पंचशैलपुर' नामसे उल्लेखित किया है ‡ । यहीं पर आपका प्रथम उपदेश हुआ है—केवल-ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् आपकी दिव्य वाणी खिरी है—और उस उपदेशके समयसे ही आपके तीर्थकी उत्पत्ति हुई है § । राजगृहीमें उस वक्त राजा

---

* 'जयधवल' में, महावीरके इस तीर्थप्रवर्तन और उनके आगमकी प्रमाणता-का उल्लेख करते हुए, एक प्राचीन गाथाके आधार पर उन्हें 'नि:सशयकर' (जगतके जीवोंके सन्देहको दूर करने वाले), 'वीर' (ज्ञान-वचनादिकी सातिशय शक्तिसे सम्पन्न), 'जिनोत्तम' (जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ), 'राग-द्वेष-भयसे रहित' और 'धर्मतीर्थ-प्रवर्तक' लिखा है । यथा—

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो ।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ !

† आप जृम्भका ग्रामके ऋजुकूला-तटसे चलकर पहले इसी प्रदेशमें आए हैं । इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने आपकी केवलज्ञानोत्पत्तिके उस कथनके अनन्तर जो ऊपर दिया गया है आपके वैभार पर्वत पर आनेकी बात कही है और तभीसे आपके तीस वर्षके विहारकी गणना की है । यथा—

"अथ भगवान्सम्प्रापद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यं ।
चातुर्वर्ण्य-सुसंघस्तत्राभूद् गौतमप्रभृति ॥१३॥
"दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मं ।
देशयमानो व्यहरत् त्रिशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥१५॥ —निर्वाणभक्ति ।

‡ पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे ॥
महावीरेण (अ) त्थो कहिओ भवियलोग्रस्स ।

§ यह तीर्थोत्पत्ति श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाण्ह (सूर्योदय) के समय

श्रेणिक राज्य करता था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसने भगवान्‌की परिषदोंमें—समवशरण सभाओंमें—प्रधान भाग लिया है और उसके प्रश्नों पर बहुतसे रहस्योंका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिककी रानी चेलना भी राजा चेटककी पुत्री थी और इसलिये वह रिश्तेमें महावीरकी मातृस्वसा (मावसी)† होती थी। इस तरह महावीरका अनेक राज्योंके साथमें शारीरिक सम्बन्ध भी था। उनमें आपके धर्मका बहुत प्रचार हुआ और उसे अच्छा राजाश्रय मिला है।

विहारके समय महावीरके साथ कितने ही मुनि-आर्यिकाओं तथा श्रावक-श्राविकाओंका संघ रहता था। आपने चतुर्विध संघकी अच्छी योजना और बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। इस संघके गणधरोंकी संख्या ग्यारह तक पहुँच गई थी और उनमें सबसे प्रधान गौतम स्वामी थे, जो 'इन्द्रभूति' नामसे भी प्रसिद्ध हैं और समवसरणमें मुख्य गणधरका कार्य करते थे। ये गौतम-गोत्री और सकल वेद-वेदांगके पारगामी एक बहुत बड़े ब्राह्मण विद्वान् थे, जो महावीरको केवलज्ञानकी संप्राप्ति होनेके पश्चात् उनके पास अपने जीवाऽजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ गये थे, सन्देहकी निवृत्तिपर उनके शिष्य बन गये थे और जिन्होंने अपने बहुतसे शिष्योंके साथ भगवान्‌से जिनदीक्षा लेली थी। अस्तु।

तीस * वर्षके लम्बे विहारको समाप्त करते और कृतकृत्य होते हुए, भगवान्

अभिजित नक्षत्रमें हुई है; जैसा कि धवल सिद्धान्तके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥२॥

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थानुसार 'मातुलजा'—मामूज़ाद बहन।

* धवल सिद्धान्तमें—और जयधवलमें भी—कुछ आचार्योंके मतानुसार एक प्राचीन गाथाके आधार पर विहारकालकी संख्या २९ वर्ष ५ महीने २० दिन भी दी है, जो केवलोत्पत्ति और निर्वाणकी तिथियोंको देखते हुए ठीक जान पड़ती है। और इसलिये ३० वर्षकी यह संख्या स्थूलरूपसे समझनी चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है:—

वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य।
चउविहअणगारेहिं बारहहि गणेहि विहरंतो ॥१॥

महावीर जब पावापुरके एक सुन्दर उद्यानमें पहुँचे, जो अनेक पद्म-सरोवरों तथा नाना प्रकारके वृक्षसमूहोंसे मंडित था, तब आप वहाँ कायोत्सर्गसे स्थित हो गये और आपने परम शुक्लध्यानके द्वारा योगनिरोध करके दग्धरज्जु-समान अवशिष्ट रहे कर्म-रजको—अघातिचतुष्टयको—भी अपने आत्मासे पृथक् कर डाला, और इस तरह कार्तिक वदि अमावस्याके दिन*, स्वाति नक्षत्रके समय, निर्वाण-पदको

---

* धवल सिद्धान्तमें, "पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचोद्दसिए । सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ ॥" इस प्राचीन गाथाको प्रमाणमें उद्धृत करते हुए, कार्तिक बदि चतुर्दशीकी रात्रिको (पच्छिमभाए = पिछले पहरमें) निर्वाणका होना लिखा है। साथ ही, केवलोत्पत्तिसे निर्वाण तकके समय २९ वर्ष ५ महीने २० दिनकी संगति ठीक बिठलाते हुए, यह भी प्रतिपादन किया है कि अमावस्याके दिन देवेंद्रोंके द्वारा परिनिर्वाणपूजा की गई है वह दिन भी इस कालमें शामिल करने पर कार्तिकके १५ दिन होते हैं। यथा:—

"अमावसीए परिणिव्वाणपूजा सयलदेविंदेहि कया त्ति तंपि दिवसमेत्थेव पक्खित्ते पण्णारस दिवसा होंति ।"

इससे यह मालूम होता है कि निर्वाण अमावस्याको दिनके समय तथा दिनके बाद रात्रिको नहीं हुआ, बल्कि चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमें हुआ है जब कि अमावस्या आ गई थी और उसका सारा कृत्य—निर्वाणपूजा और देहसंस्कारादि—अमावस्याको ही प्रातःकाल आदिके समय भुगता है। इससे कार्तिककी अमावस्या आम तौर पर निर्वाणकी तिथि कहलाती है। और चूँकि वह रात्रि चतुर्दशीकी थी इससे चतुर्दशीको निर्वाण कहना भी कुछ असंगत मालूम नहीं होता। महापुराणमें गुणभद्राचार्यने भी "कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये" इस वाक्यके द्वारा कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिको उस समय निर्वाणका होना बतलाया है जबकि रात्रि समाप्तिके करीब थी। उसी रात्रिके अंधेरेमें, जिसे जिनसेनने हरिवंशपुराणमें "कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये" पदके द्वारा उल्लेखित किया है, देवेन्द्रों-द्वारा दीपावली प्रज्वलित करके निर्वाणपूजा किये जानेका उल्लेख है और वह पूजा धवलके उक्त वाक्यानुसार अमावस्याको की गई है। इससे चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमें अमावस्या आ गई थी यह स्पष्ट जाना

प्राप्त करके आप सदाके लिये अजर, अमर तथा अक्षय सौख्यको प्राप्त हो गये* । इसीका नाम विदेहमुक्ति, आत्यन्तिक-स्वात्मस्थिति, परिपूर्णसिद्धावस्था अथवा निष्कल-परमात्मपदकी प्राप्ति है । भगवान् महावीर प्रायः ७२ वर्षकी अवस्था † में अपने इस अन्तिम ध्येयको प्राप्त करके लोकाग्रवासी हुए । और आज उन्हींका तीर्थ प्रवर्त रहा है ।

इस प्रकार भगवान् महावीरका यह संक्षेपमें सामान्य परिचय है, जिसमें प्रायः किसीको भी कोई खास विवाद नहीं है । भगवज्जीवनीकी उभय सम्प्रदाय-सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त अथवा मतभेदवाली बातोंको मैंने पहलेसे ही छोड़ दिया है । उनके लिये इस छोटेसे निबन्धमें स्थान भी कहाँ हो सकता है ? वे तो गहरे

जाता है । और इसलिये अमावस्याको निर्वाण बतलाना बहुत युक्तियुक्त है, उसीका श्रीपूज्यपादाचार्यने "कार्तिककृष्णस्यान्ते" पदके द्वारा उल्लेख किया है ।

* जैसा कि श्रीपूज्यपादके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है:—

"पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥१६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥१७॥" —निर्वाणभक्ति ।

† धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें महावीरकी आयु, कुछ आचार्योंके मतानुसार, ७१ वर्ष ३ महीने २५ दिनकी भी बतलाई है और उसका लेखा इस प्रकार दिया है—

गर्भकाल = ९ मास ८ दिन; कुमारकाल = २८ वर्ष ७ मास १२ दिन; छद्मस्थ (तपश्चरण)काल = १२ वर्ष ५ मास १५ दिन; केवल(विहार)काल = २९ वर्ष ५ मास २० दिन ।

इस लेखेके कुमारकालमें एक वर्षकी कमी जान पड़ती है; क्योंकि वह आम तौर पर प्रायः ३० वर्षका माना जाता है । दूसरे, इस आयुमेंसे यदि गर्भकालको निकाल दिया जाय, जिसका लोक-व्यवहारमें ग्रहण नहीं होता तो वह ७० वर्ष कुछ महीनेकी ही रह जाती है और इतनी आयुके लिये ७२ वर्षका व्यवहार नहीं बनता ।

अनुसंधानको लिये हुए एक विस्तृत आलोचनात्मक निबन्धमें अच्छे ऊहापोह अथवा विवेचनके साथ ही दिखलाई जानेके योग्य हैं।

देशकालकी परिस्थिति

देश-कालकी जिस परिस्थितिने महावीर भगवानको उत्पन्न किया उसके सम्बन्धमें भी दो शब्द कह देना यहाँ पर उचित जान पड़ता है। महावीर भगवान्के अवतारसे पहले देशका वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीड़ित तथा संत्रस्त हो रहा था; दीन-दुर्बल खूब सताए जाते थे; ऊँच-नीचकी भावनाएं जोरों पर थीं; शूद्रोंसे पशुओं-जैसा व्यवहार होता था, उन्हें कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नहीं था, वे शिक्षा-दीक्षा और उच्चसंस्कृतिके अधिकारी ही नहीं माने जाते थे और उनके विषयमें बहुत ही निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे; स्त्रियाँ भी काफी तौर पर सताई जाती थीं, उच्चशिक्षासे वंचित रक्खी जाती थीं, उनके विषयमें "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" (स्त्री स्वतन्त्रताकी अधिकारिणी नहीं) जैसी कठोर आज्ञाएं जारी थीं और उन्हें यथेष्ट मानवी अधिकार प्राप्त नहीं थे—बहुतोंकी दृष्टिमें तो वे केवल भोगकी वस्तु, विलासकी चीज, पुरुषकी सम्पत्ति अथवा बच्चा जननेकी मशीनमात्र रह गई थीं; ब्राह्मणोंने धर्मानुष्ठान आदिके सब ऊँचे ऊँचे अधिकार अपने लिए रिज़र्व रख छोड़े थे—दूसरे लोगोंको वे उनका पात्र ही नहीं समझते थे—सर्वत्र उन्हींकी तूती बोलती थी, शासनविभागमें भी उन्होंने अपने लिए खास रिआयतें प्राप्त कर रक्खी थीं—घोरसे घोर पाप और बड़ेसे बड़ा अपराध कर लेने पर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जब कि दूसरोंको एक साधारणसे अपराधपर भी सूली-फाँसीपर चढ़ा दिया जाता था; ब्राह्मणोंके बिगड़े तथा सड़े हुए जाति-भेदकी दुर्गंधसे देशका प्राण घुट रहा था और उसका विकास रुक रहा था, खुद उनके अभिमान तथा जाति-मदने उन्हें पतित कर दिया था और उनमें लोभ-लालच, दंभ, अज्ञानता, अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणोंका निवास हो गया था; वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएँ लेकर परलोकके लिए सर्टिफ़िकेट और पर्वाने तक देने लगे थे; धर्मकी असली भावनाएं प्रायः लुप्त हो गई थीं और उनका स्थान अर्थ-हीन क्रियाकाण्डों तथा थोथे विधि-विधानोंने ले लिया था; बहुतसे देवी-देवताओंकी कल्पना प्रबल हो उठी

थी, उनके सन्तुष्ट करनेमें ही सारा समय चला जाता था और उन्हें पशुओंकी बलियाँ तक चढ़ाई जाती थीं; धर्मके नाम पर सर्वत्र यज्ञ-यागादिक कर्म होते थे और उनमें असंख्य पशुओंको होमा जाता था—जीवित प्राणी धधकती हुई आगमें डाल दिये जाते थे—और उनका स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** कहकर लोगोंको भुलावेमें डाला जाता था और उन्हें ऐसे क्रूर कर्मोंके लिये उत्तेजित किया जाता था। साथ ही, बलि तथा यज्ञके बहाने लोग मांस खाते थे। इस तरह देशमें चहुँ ओर अन्याय-अत्याचारका साम्राज्य था—बड़ा ही बीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था—सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितोंकी आहोंके धुएँसे आकाश व्याप्त था और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था।

यह सब देखकर सज्जनोंका हृदय तलमला उठा था, धार्मिकोंको रात दिन चैन नहीं पड़ता था और पीड़ित व्यक्ति अत्याचारों से ऊबकर त्राहि त्राहि कर रहे थे। सबोंकी हृदय-तन्त्रियोंसे 'हो कोई अवतार नया' की एक ही ध्वनि निकल रही थी और सबोंकी दृष्टि एक ऐसे असाधारण महात्माकी ओर लगी हुई थी जो उन्हें हस्तावलम्बन देकर इस घोर विपत्तिसे निकाले। ठीक इसी समय—आजसे कोई ढाई हजार वर्षसे भी पहले—प्राची दिशामें भगवान् महावीर भास्करका उदय हुआ, दिशाएं प्रसन्न हो उठीं, स्वास्थ्यकर मन्द-सुगन्ध पवन वहने लगा, सज्जन धर्मात्माओं तथा पीड़ितोंके मुखमंडल पर आशाकी रेखाएँ दीख पड़ीं, उनके हृदयकमल खिल गये और उनकी नस-नाड़ियोंमें ऋतुराज (वसंत) के आगमनकाल-जैसा नवरसका संचार होने लगा।

महावीरका उद्धारकार्य

महावीरने लोक-स्थितिका अनुभव किया, लोगोंकी अज्ञानता, स्वार्थपरता, उनके बहम, उनका अन्धविश्वास और उनके कुत्सित विचार एवं दुर्व्यवहारको देखकर उन्हें भारी दुःख तथा खेद हुआ। साथ ही, पीड़ितोंकी करुण पुकारको सुनकर उनके हृदयसे दयाका अखंड स्रोत बह निकला। उन्होंने लोकोद्धारका संकल्प किया, लोकोद्धारका सम्पूर्ण भार उठानेके लिये अपनी सामर्थ्यको तोला

और उसमें जो त्रुटि थी उसे बारह वर्षके उस घोर तपश्चरणके द्वारा पूरा किया जिसका अभी उल्लेख किया जा चुका है।

इसके बाद सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होकर महावीरने लोकोद्धारका सिंहनाद किया--लोकमें प्रचलित सभी अन्याय-अत्याचारों, कुविचारों तथा दुराचारोंके विरुद्ध आवाज उठाई--और अपना प्रभाव सबसे पहले ब्राह्मण विद्वानों पर डाला, जो उस वक्त देशके 'सर्वे सर्वाः' बने हुए थे और जिनके सुधरने पर देशका सुधरना बहुत कुछ सुखसाध्य हो सकता था। आपके इस पटु सिंहनादको सुनकर, जो एकान्तका निरसन करने वाले स्याद्वादकी विचार-पद्धतिको लिए हुये था, लोगोंका तत्त्वज्ञानविषयक भ्रम दूर हुआ, उन्हें अपनी भूलें मालूम पड़ीं, धर्म-अधर्मके यथार्थ स्वरूपका परिचय मिला, आत्मा-अनात्माका भेद स्पष्ट हुआ और बन्ध-मोक्षका सारा रहस्य जान पड़ा। साथ ही, झूठे देवी-देवताओं तथा हिंसक यज्ञादिकों परसे उनकी श्रद्धा हटी और उन्हें यह बात साफ़ जँच गई कि हमारा उत्थान और पतन हमारे ही हाथमें है, उसके लिये किसी गुप्त शक्तिकी कल्पना करके उसीके भरोसे बैठ रहना अथवा उसको दोष देना अनुचित और मिथ्या है। इसके सिवाय, जातिभेदकी कट्टरता मिटी, उदारता प्रकटी, लोगोंके हृदयमें साम्यवादकी भावनाएँ दृढ हुई और उन्हें अपने आत्मोत्कर्षका मार्ग सूझ पड़ा। साथ ही, ब्राह्मण गुरुओंका आसन डोल गया, उनमेंसे इन्द्रभूति-गौतम जैसे कितने ही दिग्गज विद्वानोंने भगवान्‌के प्रभावसे प्रभावित होकर उनकी समीचीन धर्मदेशनाको स्वीकार किया और वे सब प्रकारसे उनके पूरे अनुयायी बन गये। भगवान्‌ने उन्हें 'गणधर' के पद पर नियुक्त किया और अपने संघका भार सौंपा। उनके साथ उनका बहुत बड़ा शिष्यसमुदाय तथा दूसरे ब्राह्मण और अन्य धर्मानुयायी भी जैनधर्ममें दीक्षित होगये। इस भारी विजयसे क्षत्रिय गुरुओं और जैनधर्मकी प्रभाव-वृद्धिके साथ साथ तत्कालीन (क्रियाकाण्डी) ब्राह्मणधर्मकी प्रभा क्षीण हुई, ब्राह्मणोंकी शक्ति घटी, उनके अत्याचारोंमें रोक हुई, यज्ञ-यागादिक कर्म मन्द पड़ गये--उनमें पशुओंके प्रतिनिधियोंकी भी कल्पना होने लगी—और ब्राह्मणोंके लौकिक स्वार्थ तथा जाति-पांतिके भेदको बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। परन्तु निरंकुशताके कारण उनका पतन जिस तेज़ीसे हो रहा था वह रुक गया और उन्हें सोचने-विचारनेका अथवा अपने धर्म तथा

परिणतिमें फेरफार करनेका अवसर मिला।

महावीरकी इस धर्मदेशना और विजयके सम्बन्धमें कविसम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ टागौरने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार हैं :—

Mahavira proclaimed in India the message of Salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community, that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्—महावीरने डंकेकी चोट भारतमें मुक्तिका ऐसा सन्देश घोषित किया कि, धर्म कोई महज़ सामाजिक रूढि नहीं बल्कि वास्तविक सत्य है—वस्तुस्वभाव है,—और मुक्ति उस धर्ममें आश्रय लेनेसे ही मिल सकती है, न कि समाजके बाह्य आचारोंका—विधिविधानों अथवा क्रियाकाण्डोंका—पालन करनेसे, और यह कि धर्मकी दृष्टिमें मनुष्य मनुष्यके बीच कोई भेद स्थायी नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षणने बद्धमूल हुई जातिकी हदबन्दियोंको शीघ्र ही तोड़ डाला और सम्पूर्ण देश पर विजय प्राप्त किया। इस वक्त क्षत्रिय गुरुओंके प्रभावने बहुत समयके लिये ब्राह्मणोंकी सत्ताको पूरी तौरसे दबा दिया था।

इसी तरह लोकमान्य तिलक आदि देशके दूसरे भी कितनेही प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानोंने, अहिंसादिकके विषयमें, महावीर भगवान् अथवा उनके धर्मकी ब्राह्मणधर्म पर गहरी छापका होना स्वीकार किया है, जिनके वाक्योंको यहाँ पर उद्धृत करनेकी जरूरत नहीं है—अनेक पत्रों तथा पुस्तकोंमें वे छप चुके हैं। महात्मा गांधी तो जीवन भर भगवान् महावीरके मुक्तकण्ठसे प्रशंसक बने रहे। विदेशी विद्वानोंके भी बहुतसे वाक्य महावीरकी योग्यता, उनके प्रभाव और उनके

शासनकी महिमा-सम्बन्धमें उद्धृत किये जा सकते हैं; परन्तु उन्हें भी यहाँ छोड़ा जाता है।

वीर-शासनकी विशेषता

भगवान् महावीरने संसारमें सुख-शान्ति स्थिर रखने और जनताका विकास सिद्ध करनेके लिये चार महासिद्धान्तोंकी--१ अहिंसावाद, २ साम्यवाद, ३ अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) और ४ कर्मवाद नामक महासत्योंकी--घोषणा की है और इनके द्वारा जनताको निम्न बातोंकी शिक्षा दी है :—

१ निर्भय-निर्वैर रह कर शान्तिके साथ जीना तथा दूसरोंको जीने देना।

२ राग-द्वेष-अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करना और अनुचित भेद-भावको त्यागना।

३ सर्वतोमुखी विशालदृष्टि प्राप्त करके अथवा नय-प्रमाणका सहारा लेकर सत्यका निर्णय तथा विरोधका परिहार करना।

४ 'अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है' ऐसा समझते हुए, स्वावलम्बी बनकर अपना हित और उत्कर्ष साधना तथा दूसरोंके हित-साधनमें मदद करना।

साथ ही, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको--तीनोंके समुच्चय-को--मोक्षकी प्राप्तिका एक उपाय अथवा मार्ग बतलाया है। ये सब सिद्धान्त इतने गहन, विशाल तथा महान् हैं और इनकी विस्तृत व्याख्याओं तथा गम्भीर विवेचनाओंसे इतने जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं कि इनके स्वरूपादि-विषयमें यहाँ कोई चलतीसी बात कहना इनके गौरवको घटाने अथवा इनके प्रति कुछ अन्याय करने-जैसा होगा। और इसलिये इस छोटेसे निबन्ध में इनके स्वरूपादिका न लिखा जाना क्षमा किये जानेके योग्य है। इन पर तो अलग ही विस्तृत निबन्धोंके लिखे जानेकी जरूरत है। हाँ, स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यानुसार इतना जरूर बतलाना होगा कि महावीर भगवान्का शासन नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और सम्पूर्ण प्रवादियोंके द्वारा अबाध्य होनेके साथ साथ दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रहत्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है, और यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसी लिये वह अद्वितीय है।

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

—युक्त्यनुशासन

इस वाक्यमें 'दया' को सबसे पहला स्थान दिया गया है और वह ठीक ही है। जब तक दया अथवा अहिंसाकी भावना नहीं तब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं होती, जब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं तब तक त्याग नहीं बनता और जब तक त्याग नहीं तब तक समाधि नहीं बनती। पूर्व पूर्व धर्म उत्तरोत्तर धर्मका निमित्त कारण है। इसलिये धर्ममें दयाको पहला स्थान प्राप्त है। और इसीसे **'धर्मस्य मूलं दया'** आदि वाक्योंके द्वारा दयाको धर्मका मूल कहा गया है। अहिंसाको 'परम धर्म' कहनेकी भी यही वजह है। और उसे परम धर्म ही नहीं किन्तु 'परम ब्रह्म' भी कहा गया है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।"

—स्वयम्भूस्तोत्र

और इसलिये जो परमब्रह्मकी आराधना करना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये—राग-द्वेषकी निवृत्ति, दया, परोपकार अथवा लोक-सेवाके कामोंमें लगना चाहिये। मनुष्योंमें जब तक हिंसकवृत्ति बनी रहती है तब तक आत्मगुणोंका घात होनेके साथ साथ "पापाः सर्वत्र शंकिताः" की नीतिके अनुसार उसमें भयका या प्रतिहिंसाकी आशंकाका सद्भाव बना रहता है। जहाँ भयका सद्भाव वहाँ वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं * और जहाँ वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं वहाँ आत्मोद्धारका नाम नहीं। अथवा यों कहिये कि भयमें संकोच होता है और संकोच विकासको रोकनेवाला है। इसलिये आत्मोद्धार

* इसीसे सम्यग्दृष्टिको सप्त प्रकारके भयोंसे रहित बतलाया है और भयको मिथ्यात्वका चिह्न तथा स्वानुभवकी क्षतिका परिणाम सूचित किया है। यथा—

"नापि स्पृष्टो सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥"

"ततो भीत्याऽनुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥" —पंचाध्यायी

अथवा आत्मविकासके लिये अहिंसाकी बहुत बड़ी जरूरत है और वह वीरताका चिह्न है—कायरताका नहीं। कायरताका आधार प्रायः भय होता है, इसलिये कायर मनुष्य अहिंसा धर्मका पात्र नहीं—उसमें अहिंसा ठहर नहीं सकती। वह वीरोंके ही योग्य है और इसीलिये महावीरके धर्ममें उसको प्रधान स्थान प्राप्त है। जो लोग अहिंसा पर कायरताका कलंक लगाते हैं उन्होंने वास्तवमें अहिंसाके रहस्यको समझा ही नहीं। वे अपनी निर्बलता और आत्म-विस्मृतिके कारण कषायोंसे अभिभूत हुए कायरताको वीरता और आत्माके क्रोधादिक-रूप पतनको ही उसका उत्थान समझ बैठे हैं! ऐसे लोगोंकी स्थिति, निःसन्देह बड़ी ही करुणाजनक है।

सर्वोदय तीर्थ

स्वामी समन्तभद्रने भगवान् महावीर और उनके शासनके सम्बन्धमें और भी कितने ही बहुमूल्य वाक्य कहे हैं जिनमेंसे एक सुन्दर वाक्य मैं यहाँ पर और उद्धृत कर देना चाहता हूँ और वह इस प्रकार है:—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

—युक्त्यनुशासन

इसमें भगवान् महावीरके शासन अथवा उनके परमागमलक्षण-रूप वाक्यका स्वरूप बतलाते हुए जो उसे ही सम्पूर्ण आपदाओंका अन्त करने वाला और सबोंके अभ्युदयका कारण तथा पूर्ण अभ्युदयका—विकासका—हेतु ऐसा 'सर्वोदय तीर्थ' बतलाया है वह बिल्कुल ठीक है। महावीर भगवान्का शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों तथा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय तथा मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। इसलिये जो लोग भगवान् महावीरके शासनका—उनके धर्मका—आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादिक दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय सिद्ध कर सकते हैं। महावीरकी ओरसे इस धर्मका द्वार सबके लिये खुला हुआ है। जैसा कि जैनग्रन्थोंके निम्न वाक्योंसे ध्वनित है:—

(१) "दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचित: ।
मनोवाक्कायधर्माय मता: सर्वेऽपि जन्तव: ।।"
"उच्चावचजनप्राय: समयोऽयं जिनेशिनां ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय: ।।" —यशस्तिलके, सोमदेव:

(२) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कार: शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान् ।" —नीतिवाक्यामृते, सोमदेव:

(३) "शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपु: शुद्ध्याऽस्तु तादृश: ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ।।"२-२२।।
—सागारधर्मामृते, आशाधर: ।

इन सब वाक्योंका आशय क्रमश: इस प्रकार है—

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण (आम तौर पर) मुनिदीक्षाके योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधिके द्वारा दीक्षाके योग्य है। (वास्तवमें) मन-वचन-कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।

'जिनेन्द्रका यह धर्म प्राय: ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है; एक स्तम्भके आधार पर जैसे मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्यसमूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है।'

—यशस्तिलक

(२) मद्य-मांसादिकके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृह-पात्रादिककी पवित्रता और नित्य-स्नानादिके द्वारा शरीरशुद्धि ये तीनों प्रवृत्तियां (विधियां) शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियोंके परिकर्मोंके योग्य बना देती हैं।

—नीतिवाक्यामृत

(३) आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्य-मांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक-लब्धिको पाकर जैनधर्मका अधिकारी होता है।

—सागारधर्मामृत

नीचसे नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी इस धर्मको धारण करके इसी

लोकमें अति उच्च बन सकता है ※। इसकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी हैं, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' माना गया है †। यह धर्म इन ब्राह्मणादिक जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचारभेदके आधारपर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है और यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है और उनके नाश पर नष्ट हो जाती है ×। इन जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिए हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जातिभेदके विरुद्ध है‡।

※ यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥
—जिनशतके, समन्तभद्रः।

† "न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११–२०३ ॥"
—पद्मचरिते, रविषेणः।

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्" ॥२८॥—रत्नकरण्डे, समन्तभद्रः।

× "चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतं" ॥११–२०५॥—पद्मचरिते, रविषेणः।

"आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनं।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी" ॥१७–२४॥

"गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।"...॥३२॥
—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः।

‡ "वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥

इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमें दिखाई नहीं देता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न महज़ व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है *। वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्य जाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नाम कर्मके उदयसे होती है, और इस दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है ‡। इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो उसकी शुद्धिकी, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिला लेने तथा मुनि-दीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएं भी इस शासनमें पाई जाती हैं ×। और

नास्तिजातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ —महापुराणे, गुणभद्रः ।

* चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित् ।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ॥ —पद्मचरिते, रविषेणः ।

‡ "मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ३८–४५ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ –धर्मरसिके, सोमसेनोद्धृतः ।

× जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणं ।
सोपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥ ४०–१६८ ॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥ —१६९ ॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः ।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ ४२–१७९ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

इसलिये यह शासन सचमुच ही 'सर्वोदय-तीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसार-समुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है; इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदय तीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरों को लाभ उठाने देते हैं—महज अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीडाके स्थल रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदय-तीर्थ' पर दिन रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेलासा लगा

---

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्॥"—लब्धिसारटीका (गाथा १९३वीं)

नोट—म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसंयम-ग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्धादिका यह सब विधान जयधवल सिद्धान्तमें भी इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है। वहींसे भाषादिरूप थोड़ासा शब्द-परिवर्तन करके लब्धिसारटीकामें लिया गया मालूम होता है। जैसा कि जयधवलके निम्न शब्दोंसे प्रकट है:—

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयपयट्ट-चक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टि-आदीहि सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्म-भूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।" —जयधवल, आरा-प्रति, पत्र ८२७-२८

रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है और जो जैन कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता--कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नज़र नहीं आती--लोगोंको महावीरके संदेशकी ही ख़बर नहीं, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमें अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर कर दिया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हरवक्त खुला रहे, सबोंके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थ-जल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकाल कर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके महात्म्यका पूरा पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश-देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १७०० वर्षसे भी ऊपर हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनडी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख* में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुएउदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरों में व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

* यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनाथकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक संवत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवीं, अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृष्ठ ४६ वाँ।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि भगवान् महावीरके शासन-तीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बात को स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमें जरा भी संकोचकी जरूरत नहीं है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य प्रचारकोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोंका यह काम है कि वे जैसे तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादि-रूप मत्सर भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शनप्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान दृष्टिको खोलें।

महावीर-सन्देश

हमारा इस वक्त यह खास कर्तव्य है कि हम भगवान् महावीरके संदेशको—उनके शिक्षासमूहको—मालूम करें, उसपर खुद अमल करें और दूसरोंसे अमल करानेके लिये उसका घर घरमें प्रचार करें। बहुतसे जैनशास्त्रोंका अध्ययन, मनन और मन्थन करने पर मुझे भगवान् महावीरका जो सन्देश मालूम हुआ है उसे मैंने एक छोटीसी कवितामें निबद्ध कर दिया है। यहाँ पर उसका दे दिया जाना भी कुछ अनुचित न होगा। उससे थोड़ेमें ही—सूत्ररूपसे—महावीर

भगवान्‌की बहुतसी शिक्षाओंका अनुभव हो सकेगा और उन पर चलकर—उन्हें अपने जीवनमें उतारकर—हम अपना तथा दूसरोंका बहुत कुछ हित साधन कर सकेंगे। वह संदेश इस प्रकार है:—

यही है महावीर-संदेश।
विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश ॥ यही० ॥
"सब जीवोंको तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष ॥ १ ॥
वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश ॥ २ ॥
घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझा कर प्रेम-मार्गसे, करो उसे पुण्येश ॥ ३ ॥
तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश ॥ ४ ॥
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुखमें सविशेष ॥ ५ ॥
अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप-संयममें रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष ॥ ६ ॥
'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपावेश ॥ ७ ॥
संज्ञानी-संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश।
सदाचार पालो दृढ होकर, रहे प्रमाद न लेश ॥ ८ ॥
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष।
विश्व-प्रेम जाग्रत कर उर में, करो कर्म निःशेष ॥ ९ ॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया-लोक-सेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश ॥ १० ॥
इस पर चलनेसे ही होगा, विकसित स्वात्म-प्रदेश।
आत्म-ज्योति जगेगी ऐसे, जैसे उदित दिनेश ॥ ११ ॥"
यही है महावीर-सन्देश, विपुला०।

महावीरका समय

अब देखना यह है कि भगवान् महावीरको अवतार लिये ठीक कितने वर्ष हुए हैं। महावीरकी आयु कुछ कम ७२ वर्षकी–७१ वर्ष, ६ मास, १८ दिनकी–थी। यदि महावीरका निर्वाण-समय ठीक मालूम हो तो उनके अवतार-समयको अथवा जयन्तीके अवसरों पर उनकी वर्षगाँठ-संख्याको सूचित करनेमें कुछ भी देर न लगे। परन्तु निर्वाण-समय अर्सेसे विवादग्रस्त चल रहा है—प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत् पर आपत्ति की जाती है—कितने ही देशी विदेशी विद्वानोंका उसके विषयमें मतभेद है; और उसका कारण साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़, अर्थ समझनेकी गलती अथवा कालगणनाकी भूलजान पड़ती है। यदि इस गड़बड़, गलती अथवा भूलका ठीक पता चल जाय तो समयका निर्णय सहजमें ही हो सकता है और उससे बहुत काम निकल सकता है; क्योंकि महावीरके समयका प्रश्न जैन इतिहासके लिये ही नहीं किन्तु भारतके इतिहासके लिये भी एक बड़े ही महत्वका प्रश्न है। इसीसे अनेक विद्वानोंने उसको हल करनेके लिये बहुत परिश्रम किया है और उससे कितनी ही नई नई बातें प्रकाशमें आई हैं। परन्तु फिर भी, इस विषयमें, उन्हें जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं मिली—बल्कि कुछ नई उलझनें भी पैदा हो गई हैं—और इस लिये यह प्रश्न अभी तक बराबर विचारके लिये चला ही जाता है। मेरी इच्छा थी कि मैं इस विषयमें कुछ गहरा उतर कर पूरी तफ़सीलके साथ एक विस्तृत लेख लिखूँ परन्तु समयकी कमी आदिके कारण वैसा न करके, संक्षेपमें ही, अपनी खोजका एक सार भाग पाठकोंके सामने रखता हूँ। आशा है कि सहृदय पाठक इस परसे ही, उस गड़बड़, गलती अथवा भूलको मालूम करके, समयका ठीक निर्णय करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

आजकल जो वीर-निर्वाण-संवत् प्रचलित है और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ होता है वह २४६० है। इस संवत्का एक आधार 'त्रिलोकसार' की निम्न गाथा है, जो श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है:—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं॥ ८५०

इसमें बतलाया गया है कि 'महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ, और शक राजासे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ।' शक राजाके इस समयका समर्थन 'हरिवंशपुराण' नामके एक दूसरे प्राचीन ग्रंथसे भी होता है जो त्रिलोकसारसे प्राय: दो सौ वर्ष पहलेका बना हुआ है और जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने शक सं० ७०५ में बनाकर समाप्त किया है। यथा :—

> वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
> मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥ ६०-५४९॥

इतना ही नहीं, बल्कि और भी प्राचीन ग्रन्थोंमें इस समयका उल्लेख पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण 'तिलोयपण्णत्ती' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) का निम्न वाक्य है—

> णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
> पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥ ॥

शकका यह समय ही शक-संवत्की प्रवृत्तिका काल है, और इसका समर्थन एक पुरातन श्लोकसे भी होता है, जिसे श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने अपनी 'विचारश्रेणि'में निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है:—

> श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
> शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

इसमें, स्थूलरूपसे वर्षोंकी ही गणना करते हुए, साफ़ लिखा है कि 'महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद इस भारतवर्षमें शकसंवत्सरकी प्रवृत्ति हुई।'

श्रीवीरसेनाचार्य-प्रणीत 'धवल' नामके सिद्धान्त-भाष्यसे——जिसे इस निबंध में 'धवल सिद्धान्त' नामसे भी उल्लेखित किया गया है——इस विषयका और भी ज्यादा समर्थन होता है; क्योंकि इस ग्रंथमें महावीरके निर्वाणके बाद केवलियों तथा श्रुतधर-आचार्योंकी परम्पराका उल्लेख करते हुए और उसका

❀ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें शककालका कुछ और भी उल्लेख पाया जाता है और इसीसे यहां 'अहवा' (अथवा) शब्दका प्रयोग किया गया है।

काल-परिमाण ६८३ वर्ष बतलाते हुए यह स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट किया है कि इस ६८३ वर्षके कालमेंसे ७७ वर्ष ७ महीने घटा देने पर जो ६०५ वर्ष ५ महीनेका काल अवशिष्ट रहता है वही महावीरके निर्वाणदिवससे शककालकी आदि—शक संवत्की प्रवृत्ति—तकका मध्यवर्ती काल है; अर्थात् महावीरके निर्वाणदिवससे ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद शकसंवत्का प्रारम्भ हुआ है। साथ ही इस मान्यताके लिये कारणका निर्देश करते हुए, एक प्राचीन गाथाके आधार पर यह भी प्रतिपादन किया है कि इस ६०५ वर्ष ५ महीनेके कालमें शककालको—शक संवत्की वर्षादि-संख्याको—जोड़ देनेसे महावीरका निर्वाणकाल—निर्वाण-संवत्का ठीक परिमाण—आ जाता है। और इस तरह वीरनिर्वाण-संवत् मालूम करनेकी स्पष्ट विधि भी सूचित की है। धवलके वे वाक्य इस प्रकार हैं :—

"सव्वकालसमासो तेयासीदिअहियछस्सदमेत्तो (६८३)। पुणो एत्थ सत्तमासाहियसत्तहत्तरिवासेसु (७७-७) अवणीदेसु पंचमासाहिय-पंचुत्तर-छस्सदवासाणि (६०५-५) हवंति, एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदिय कालो। कुदो? एदम्मि काले सगणरिंदकालस्स पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकालागमणादो। वुत्तंच—

* पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥"

—देखो, आरा जैनसिद्धान्तभवनकी प्रति, पत्र ५३७

---

* इस प्राचीन गाथाका जो पूर्वार्ध है वही श्वेताम्बरोंके 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक प्राचीन प्रकरणकी निम्न गाथाका पूर्वार्ध है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिणिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो सगो राया॥ ६२३॥

और इससे यह साफ़ जाना जाता है कि 'तित्थोगाली' की इस गाथामें जो ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद शकराजाका उत्पन्न होना लिखा है वह शककालके उत्पन्न होने अर्थात् शकसंवत्के प्रवृत्त होनेके आशयको लिये हुए है। और इस तरह महावीरके इस निर्वाणसमय-सम्बन्धमें दोनों सम्प्रदायोंकी एक वाक्यता पाई जाती है।

इन सब प्रमाणोंसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि शकसंवत्के प्रारम्भ होनेसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहले महावीरका निर्वाण हुआ है।

शक-सम्वत्के इस पूर्ववर्ती समयको वर्तमान शक-सम्वत् १८५५ में जोड़ देनेसे २४६० की उपलब्धि होती है, और यही इस वक्त प्रचलित वीर निर्वाण-सम्वत्की वर्षसंख्या है। शक-सम्वत् और विक्रम-सम्वत्में १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर है। यह १३५ वर्षका अन्तर यदि उक्त ६०५ वर्षमेंसे घटा दिया जाय तो अवशिष्ट ४७० वर्षका काल रहता है, और यही स्थूल रूपसे वीरनिर्वाणके बाद विक्रम-सम्वत्की प्रवृत्तिका काल है, जिसका शुद्ध अथवा पूर्णरूप ४७० वर्ष ५ महीने हैं और जो ईस्वी सन्से प्रायः ५२८ वर्ष पहले वीरनिर्वाणका होना बतलाता है। और जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शकराजाके समयका—वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहलेका—जो उल्लेख है उसमें उसका राज्यकाल भी शामिल है; क्योंकि एक तो यहाँ 'सगराजो' पदके बाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शकराजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ। दूसरे, इस गाथामें कल्कीका जो समय वीरनिर्वाणसे एक हज़ार वर्ष तक (६०५ वर्ष ५ मास + ३९४ वर्ष ७ मास) बतलाया गया है उसमें नियमानुसार कल्कीका राज्य काल भी आ जाता है, जो एक हज़ार वर्षके भीतर सीमित रहता है। और तभी हर हज़ार वर्ष पीछे एक कल्कीके होनेका वह नियम बन सकता है जो त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंके निम्न वाक्योंमें पाया जाता है:—

> इदि पडिसहस्सवस्सं वीसे कक्कीणदिक्कमे चरिमो।
> जलमंथणो भविस्सदि कक्की सम्मग्गमत्थणओ॥ ८५७॥
>
> —त्रिलोकसार

> मुक्तिं गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
> एकैको जायते कल्की जिनधर्म-विरोधकः॥ —हरिवंशपुराण
>
> एवं वस्ससहस्से पुह कक्की हवेइ इक्केक्को। —त्रिलोकप्रज्ञप्ति

इसके सिवाय, हरिवंशपुराण तथा त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें महावीरके पश्चात् एक हज़ार वर्षके भीतर होनेवाले राज्योंके समयकी जो गणना की गई है उसमें साफ़ तौर पर कल्किराज्यके ४२ वर्ष शामिल किये गये हैं ‡। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शक और कल्कीका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्य-कालकी समाप्तिका सूचक है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शक राजाका राज्यकाल वीर-निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारम्भ हुआ और उसकी—उसके कतिपय वर्षात्मक स्थितिकालकी—समाप्तिके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने और बीतने पर कल्किका राज्यारम्भ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीर-निर्वाणसे एक हज़ार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हज़ारकी नियत संख्यामें तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थोंके कथनमें भी बाधा आती है और एक प्रकारसे सारी ही कालगणना बिगड़ जाती है *। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि

‡ श्रीयुत के० पी० जायसवाल बैरिष्टर पटनाने, जुलाई सन् १९१७ की 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित अपने एक लेखमें, हरिवंशपुराणके 'द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता' वाक्यके सामने मौजूद होते हुए भी, जो यह लिख दिया है कि इस पुराणमें कल्किराज्यके वर्ष नहीं दिये, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। आपका इस पुराणके आधार पर गुप्तराज्य और कल्किराज्यके बीच ४२ वर्षका अन्तर बतलाना और कल्किके अस्तकालको उसका उदयकाल (Rise of Kalki) सूचित कर देना बहुत बड़ी ग़लती तथा भूल है।

* हाँ, शक-सम्वत् यदि वास्तवमें शकराजाके राज्यारम्भसे ही प्रारम्भ हुआ हो तो यह कहा जा सकता है कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शकके ३९४ वर्ष ७ महीने बाद जो कल्कीका होना लिखा है उसमें शक और कल्की दोनों राजाओंका राज्यकाल शामिल है। परन्तु इस कथनमें यह विषमता बनी ही रहेगी कि अमुक अमुक वर्षसंख्याके बाद 'शकराजा हुआ' तथा 'कल्किराजा हुआ' इन दो सदृश वाक्योंमेंसे एकमें तो राज्यकालको शामिल नहीं किया और दूसरेमें वह शामिल कर लिया गया है, जो कथन-पद्धतिके विरुद्ध है।

हरिवंशपुराण और त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे उक्त शक-काल-सूचक पद्योंमें जो क्रमशः **'अभवत्'** और **'संजादो'** (संजातः) पदोंका प्रयोग किया गया है उनका 'हुआ'—शकराजा हुआ—अर्थ शकराजाके अस्तित्वकालकी समाप्तिका सूचक है, आरम्भसूचक अथवा शकराजाकी शरीरोत्पत्ति या उसके जन्मका सूचक नहीं। और त्रिलोकसारकी गाथामें इन्हीं जैसा कोई क्रियापद अध्याहृत (understood) है।

यहाँ पर एक उदाहरण-द्वारा मैं इस विषयको और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कहा जाता है और आम तौर पर लिखनेमें भी आता है कि भगवान् पार्श्वनाथसे भगवान् महावीर ढाई सौ (२५०) वर्षके बाद हुए। परन्तु इस ढाई सौ वर्ष बाद होनेका क्या अर्थ? क्या पार्श्वनाथके जन्मसे महावीरका जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ? या पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरका जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ? अथवा पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरको केवलज्ञान ढाई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुआ? तीनोंमेंसे एक भी बात सत्य नहीं है। तब सत्य क्या है? इसका उत्तर श्रीगुणभद्राचार्यके निम्न वाक्यमें मिलता है:—

पार्श्वेश-तीर्थ-सन्ताने पंचाशद्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥२७९॥

—महापुराण, ७४वाँ पर्व

इसमें बतलाया गया है कि 'श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकरसे ढाई सौ वर्षके बाद, इसी समय के भीतर अपनी आयुको लिये हुए, महावीर भगवान् हुए' अर्थात् पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरका निर्वाण ढाई सौ वर्षके बाद हुआ। इस वाक्यमें 'तदभ्यन्तरवर्त्यायुः' (इसी समयके भीतर अपनी आयुको लिये हुए) यह पद महावीरका विशेषण है। इस विशेषण-पदके निकाल देनेसे इस वाक्यकी जैसी स्थिति रहती है और जिस स्थितिमें आम तौर पर महावीरके समयका उल्लेख किया जाता है ठीक वही स्थिति त्रिलोकसारकी उक्त गाथा तथा हरिवंशपुराणादिकके उन शककालसूचक पद्योंकी है। उनमें शक राजाके विशेषण रूपसे 'तदभ्यन्तरवर्त्यायु' इस आशयका पद अध्याहृत है, जिसे अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए ऊपरसे लगाना चाहिये। बहुत सी कालगणनाका यह विशेषण-पद अध्याहृत-रूपमें ही प्राण जान पड़ता है। और इसलिये जहाँ कोई बात

स्पष्टतया अथवा प्रकरणसे इसके विरुद्ध न हो वहाँ ऐसे अवसरों पर इस पदका आशय जरूर लिया जाना चाहिये। अस्तु।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक-राजाके राज्यकालकी समाप्ति हुई और यह काल ही शकसम्वत्की प्रवृत्तिका काल है—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है—तब यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रमराजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष ५ महीनेके अनन्तर समाप्त हो गया था और यही विक्रमसम्वत्की प्रवृत्तिका काल है—तभी दोनों सम्वतोंमें १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर बनता है। और इस लिये विक्रम-सम्वत्को भी विक्रमके जन्म या राज्यारोहणका संवत् न कहकर, वीरनिर्वाण या बुद्धनिर्वाण-संवतादिकी तरह, उसकी स्मृति या यादगारमें क़ायम किया हुआ मृत्यु-संवत् कहना चाहिये। विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् है, यह बात कुछ दूसरे प्राचीन प्रमाणोंसे भी जानी जाती है, जिसका एक नमूना श्रीअमित-गति आचार्यका यह वाक्य है:—

> **समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे**
> **सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।**
> **समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुञ्जनृपतौ**
> **सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥**

इसमें, 'सुभाषितरत्नसदोह' नामक ग्रन्थको समाप्त करते हुए, स्पष्ट लिखा है कि विक्रमराजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५०वाँ वर्ष (संवत्) बीत रहा था और राजा मुंज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ला पंचमीके दिन यह पवित्र तथा हितकारी शास्त्र समाप्त किया गया है।' इन्हीं अमितगति आचा-र्यने अपने दूसरे ग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा'की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है:—

> **संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।**
> **इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामृतयुक्तिशास्त्रम्॥**

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० के विगत होने पर ग्रंथकी समाप्ति-का उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया; फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रमसंवत्का ही अपने

ग्रन्थोंमें प्रयोग किया है और वह उस वक्त विक्रमकी मृत्युका संवत् माना जाता था। संवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी—उससे कोई भेद नहीं पड़ता था—इसीलिये इस पद्यमें उसका उल्लेख नहीं किया गया। पहले पद्यमें मुञ्जके राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी ख़ास तौरसे समर्थक है; क्योंकि इतिहाससे प्रचलित वि० संवत् १०५० में मुञ्जका राज्यासीन होना पाया जाता है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगतिने प्रचलित विक्रमसंवत्से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रमसंवत्का उल्लेख अपने उक्त पद्योंमें किया है। ऐसा कहने पर मृत्युसंवत् १०५० के समय जन्मसंवत् ११३० अथवा राज्यसंवत् १११२ का प्रचलित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुञ्जके जीवित रहनेका कोई प्रमाण इतिहासमें नहीं मिलता। मुञ्जके उत्तराधिकारी राजा भोजका भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

अमितगति आचार्यके समयमें, जिसे आज साढ़े नौ सौ वर्षके करीब हो गये हैं, विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् माना जाता था यह बात उनसे कुछ समय पहलेके बने हुए देवसेनाचार्यके ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित होती है। देवसेनाचार्यने अपना 'दर्शनसार' ग्रन्थ विक्रमसंवत् ९९० में बनाकर समाप्त किया है। इसमें कितने ही स्थानों पर विक्रमसंवत्का उल्लेख करते हुए उसे विक्रमकी मृत्युका संवत् सूचित किया है; जैसा कि इसकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ ३८॥

विक्रमसंवत्के उल्लेखको लिये हुए जितने ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनमें, जहाँ तक मुझे मालूम है, सबसे प्राचीन ग्रन्थ यही है। इससे पहले धनपाल-की 'पाइअलच्छी-नाममाला' (वि० सं० १०१९) और उससे भी पहले अमित-गतिका 'सुभाषितरत्नसंदोह' ग्रन्थ पुरातत्त्वज्ञों-द्वारा प्राचीन माना जाता था।

हाँ, शिलालेखोंमें एक शिलालेख इससे भी पहिले विक्रमसंवत्के उल्लेखको लिये हुए है और वह चाहमान चण्ड महासेनका शिलालेख है, जो धौलपुरसे मिला है और जिसमें उसके लिखे जानेका संवत् ८९८ दिया है; जैसा कि उसके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य ।"

यह अंश विक्रमसंवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् बतलानेमें कोई बाधक नहीं है और न 'पाइअलच्छी नाममाला' का 'विक्कम कालस्स गए अउणत्ती [एणवी] सुत्तरे सहस्सम्मि' अंश ही इसमें कोई बाधक प्रतीत होता है बल्कि ये दोनों ही अंश एक प्रकारसे साधक जान पड़ते हैं; क्योंकि इनमें जिस विक्रमकालके बीतनेकी बात कही गई है और उसके बादके बीते हुए वर्षोंकी गणना की गई है वह विक्रमका अस्तित्वकाल—उसकी मृत्युपर्यन्तका समय—ही जान पड़ता है। उसीका मृत्युके बाद बीतना प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय, दर्शनसारमें एक यह भी उल्लेख मिलता है कि उसकी गाथाएँ पूर्वाचार्योंकी रची हुई हैं और उन्हें एकत्र संचय करके ही यह ग्रंथ बनाया गया है। यथा:—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥

इससे उक्त गाथाओंके और भी अधिक प्राचीन होनेकी संभावना है और उनकी प्राचीनतासे विक्रमसंवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् माननेकी बात और भी ज्यादा प्राचीन हो जाती है। विक्रमसंवत्की यह मान्यता अमितगतिके बाद भी अर्से तक चली गई मालूम होती है। इसीसे १५ वीं-१६ वीं शताब्दी तथा उसके करीबके बने हुए ग्रन्थोंमें भी उसका उल्लेख पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥१५७॥
लुङ्कामतमभूदेकं.................................॥१५८॥

—रत्ननन्दिकृतभद्रबाहुचरित्र

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

—वामदेवकृत, भावसंग्रह

इस संपूर्ण विवेचन परसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि प्रचलित विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् है, जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष ५ महीनेके बाद प्रारम्भ होता है । और इस लिये वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म होनेकी जो बात कही जाती है और उसके आधार पर प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत् पर आपत्ति की जाती है वह ठीक नहीं है । और न यह बात ही ठीक बैठती है कि इस विक्रमने १८ वर्षकी अवस्थामें राज्य प्राप्त करके उसी वक्तसे अपना संवत् प्रचलित किया है । ऐसा माननेके लिये इतिहासमें कोई भी समर्थ कारण नहीं है । हो सकता है कि यह एक विक्रमकी बातको दूसरे विक्रमके साथ जोड़ देनेका ही नतीजा हो ।

इसके सिवाय, नन्दिसंघकी एक पट्टावलीमें—विक्रम प्रबन्धमें भी—जो यह वाक्य दिया है कि—

"सत्तरिचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।"

अर्थात्—'जिनकालसे (महावीरके निर्वाणसे) * विक्रमजन्म ४७० वर्षके अन्तरको लिये हुए है' । और दूसरी पट्टावलीमें जो आचार्योंके समयकी गणना विक्रमके राज्यारोहण-कालसे—उक्त जन्मकालमें १८ की वृद्धि करके—की गई है वह सब उक्त शककालको और उसके आधार पर बने हुए विक्रमकालको ठीक न समझनेका परिणाम है, अथवा यों कहिये कि पार्श्वनाथके निर्वाणसे ढाईसौ वर्ष बाद महावीरका जन्म या केवलज्ञानको प्राप्त होना मान लेने जैसी गलती है ।

ऐसी हालतमें कुछ जैन, अजैन तथा पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वानोंने पट्टावलियोंको लेकर जो प्रचलित वीर-निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति की है कि 'उसकी वर्षसंख्यामें १८ वर्षकी कमी है जिसे पूरा किया जाना चाहिये'

* विक्रमजन्मका आशय यदि विक्रमकाल अथवा विक्रमसम्वत्की उत्पत्तिसे लिया जाय तो यह कथन ठीक हो सकता है । क्योंकि विक्रमसम्वत्की उत्पत्ति विक्रमकी मृत्युके बाद हुई पाई जाती है ।

वह समीचीन मालूम नहीं होती, और इसलिये मान्य किये जानेके योग्य नहीं। उसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ४८८ वर्ष बाद विक्रमसम्वत्का प्रचलित होना माननेसे विक्रम और शक सम्वतोंके बीच जो १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर है वह भी बिगड़ जाता है—सदोष ठहरता है—अथवा शककाल पर भी आपत्ति लाज़िमी आती है जो हमारा इस कालगणनाका मूलाधार है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की गई और न यह सिद्ध किया गया कि शकराजाने भी वीर-निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद जन्म लेकर १८ वर्षकी अवस्थामें राज्या-भिषेकके समय अपना सम्वत् प्रचलित किया है। प्रत्युत इसके, यह बात ऊपरके प्रमाणोंसे भले प्रकार सिद्ध है कि यह समय शकसम्वत्की प्रवृत्तिका समय है—चाहे वह सम्वत् शकराजाके राज्यकालकी समाप्ति पर प्रवृत्त हुआ हो या राज्यारम्भके समय—शकके शरीरजन्मका समय नहीं है। साथ ही, श्वेताम्बर भाइयोंने जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना है † और जिसकी वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाणसम्वत्में १८ वर्षके बढ़ानेकी भी कोई जरूरत नहीं रहती उसे क्यों ठीक न मान लिया जाय, इसका कोई समाधान नहीं होता। इसके सिवाय, जार्लचार्पेंटियरकी यह आपत्ति बराबर बनी ही रहती है कि वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके बाद जिस विक्रमराजाका होना बतलाया जाता है उसका इतिहासमें कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है*। परन्तु विक्रम संवत् को विक्रमकी मृत्युका सम्वत् मान लेने पर यह आपत्ति क़ायम नहीं रहती; क्योंकि जार्लचार्पेंटियरने वीरनिर्वाणसे ४१० वर्षके बाद विक्रमराजाका

---

† यथा—विक्कमरजारम्भा प(पु?)रओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो। —विचारश्रेणि

* इस पर बैरिष्टर के. पी. जायसवालने जो यह कल्पना की है कि सातकर्णि द्वितीयका पुत्र 'पुलमायि' ही जैनियोंका विक्रम है—जैनियोंने उसके दूसरे नाम 'विलवय' को लेकर और यह समझकर कि इसमें 'क्र' को 'ल' हो गया है उसे 'विक्रम' बना डाला है—वह कोरी कल्पना ही कल्पना जान पड़ती है। कहींसे भी इसका समर्थन नहीं होता। (बैरिष्टर सा० की इस कल्पनाके लिये देखो, जैनसाहित्यसंशोधकके प्रथम खंडका चौथा अंक)।

राज्यारंभ होना इतिहाससे सिद्ध माना है ॐ। और यही समय उसके राज्यारम्भका मृत्युसम्वत् माननेसे आता है; क्योंकि उसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा है। मालूम होता है जार्लचार्पेंटियरके सामने विक्रमसम्वत्के विषयमें विक्रमकी मृत्युका सम्वत् होनेकी कल्पना ही उपस्थित नहीं हुई और इसीलिये आपने वीरनिर्वाणसे ४१० वर्षके बाद ही विक्रम सम्वत्का प्रचलित होना मान लिया है और इस भूल तथा ग़लतीके आधार पर ही प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति कर डाली है कि उसमें ६० वर्ष बढ़े हुए हैं। इसलिये उसे ६० वर्ष पीछे हटाना चाहिये—अर्थात् इस समय जो २४६० सम्वत् प्रचलित है उसमें ६० वर्ष घटाकर उसे २४०० बनाना चाहिये। अतः आपकी यह आपत्ति भी निःसार है और वह किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि जार्ल चार्पेंटियरने, विक्रमसम्वत्को विक्रमकी मृत्युका सम्वत् न समझते हुए और यह जानते हुए भी कि श्वेताम्बर भाइयोंने वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्यारम्भ माना है, वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष बाद जो विक्रमका राज्यारम्भ होना बतलाया है वह केवल उनकी निजी कल्पना अथवा खोज है या कोई शास्त्राधार भी उन्हें इसके किये प्राप्त हुआ है। शास्त्राधार ज़रूर मिला है और उससे उन श्वेताम्बर विद्वानोंकी ग़लतीका भी पता चल जाता है जिन्होंने जिनकाल और विक्रमकालके ४७० वर्षके अन्तरकी गणना विक्रमके राज्याभिषेकसे की है और इस तरह विक्रमसम्वत्को विक्रमके राज्यारोहणका ही सम्वत् बतला दिया है। इस विषयका खुलासा इस प्रकार है:—

श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने, अपनी 'विचारश्रेणि' में—जिसे 'स्थविरावली' भी कहते हैं, **'जं रयणिं कालगओ'** आदि कुछ प्राकृत गाथाओंके आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि—'जिस रात्रिको भगवान् महावीर पावापुरमें

ॐ देखो, जार्लचार्पेंटियरका वह प्रसिद्ध लेख जो इण्डियन एण्टिक्वेरी (जिल्द ४३ वीं, सन् १९१४) की जून, जुलाई और अगस्तकी संख्याओंमें प्रकाशित हुआ है और जिसका गुजराती अनुवाद 'जैनसाहित्यसंशोधकके दूसरे खंडके द्वितीय अंकमें निकला है।

निर्वाणको प्राप्त हुए उसी रात्रिको उज्जयिनीमें चंडप्रद्योतका पुत्र 'पालक' राजा राज्याभिषिक्त हुआ, इसका राज्य ६० वर्ष तक रहा, इसके बाद क्रमशः नन्दोंका राज्य १५५ वर्ष, मौर्योंका १०८, पुष्यमित्रका ३०, बलमित्र-भानुमित्रका ६०, नभोवाहन (नरवाहन) का ४०, गर्दभिल्लका १३ और शकका ४ वर्ष राज्य रहा। इस तरह यह काल ४७० वर्षका हुआ। इसके बाद गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यका राज्य ६० वर्ष, धर्मादित्यका ४०, भाइल्लका ११, नाइल्लका १४ और नाहडका १० वर्ष मिलकर १३५ वर्षका दूसरा काल हुआ। और दोनों मिलकर ६०५ वर्षका समय महावीरके निर्वाण बाद हुआ। इसके बाद शकोंका राज्य और शकसम्वत्की प्रवृत्ति हुई, ऐसा बतलाया है।' यही वह परम्परा और कालगणना है जो श्वेताम्बरोंमें प्रायः करके मानी जाती है।

परन्तु श्वेताम्बर-सम्प्रदायके बहुमान्य प्रसिद्ध विद्वान् श्रीहेमचन्द्राचार्यके 'परिशिष्टपर्व' से यह मालूम होता है कि उज्जयिनीके राजा पालकका जो समय (६० वर्ष) ऊपर दिया है उसी समय मगधके सिंहासन पर श्रेणिकके पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) और कूणिकके पुत्र उदायीका क्रमशः राज्य रहा है। उदायीके निःसन्तान मारे जाने पर उसका राज्य नन्दको मिला। इसीसे परिशिष्टपर्वमें श्रीवर्द्धमान महावीरके निर्वाणसे ६० वर्षके बाद प्रथम नन्दराजाका राज्याभिषिक्त होना लिखा है। यथा:—

अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्ठिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः ॥६-२४३॥

इसके बाद नन्दोंका वर्णन देकर, मौर्यवंशके प्रथम राजा सम्राट् चन्द्रगुप्तके राज्यारम्भका समय बतलाते हुए, श्रीहेमचन्द्राचार्यने जो महत्वका श्लोक दिया है वह इस प्रकार है:—

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥८-३३६॥

इस श्लोक पर जार्ल चार्पेटियरने अपने निर्णयका खास आधार रक्खा है और डा० हर्मन जेकोबीके कथानुसार इसे महावीर-निर्वाणके सम्बन्धमें अधिक संगत परम्पराका सूचक बतलाया है। साथ ही, इसकी रचना परसे यह अनुमान किया है कि या तो यह श्लोक किसी अधिक प्राचीन ग्रन्थ परसे ज्योंका त्यों

उद्धृत किया गया है अथवा किसी प्राचीन गाथा परसे अनुवादित किया गया है। अस्तु; इस श्लोकमें बतलाया है कि 'महावीरके निर्वाणसे १५५ वर्ष बाद चंद्रगुप्त राज्यारूढ़ हुआ'। और यह समय इतिहासके बहुत ही अनुकूल जान पड़ता है। विचारश्रेणिकी उक्त कालगणनामें १५५ वर्षका समय सिर्फ़ नन्दोंका और उस से पहले ६० वर्षका समय पालकका दिया है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण-काल वीरनिर्वाणसे २१५ वर्ष बाद होता था परन्तु यहां १५५ वर्ष बाद बतलाया है, जिससे ६० वर्षकी कमी पड़ती है। मेरुतुंगाचार्यने भी इस कमीको महसूस किया है। परन्तु वे हेमचन्द्राचार्यके इस कथनको गलत साबित नहीं कर सकते थे और दूसरे ग्रन्थोंके साथ उन्हें साफ़ विरोध नज़र आता था, इसलिये उन्होंने 'तच्चिन्त्यम्' कहकर ही इस विषयको छोड़ दिया है। परन्तु मामला बहुत कुछ स्पष्ट जान पड़ता है। हेमचन्द्रने ६० वर्षकी यह कमी नन्दोंके राज्यकालमें की है—उनका राज्यकाल ९५ वर्षका बतलाया है—क्योंकि नन्दोंसे पहिले उनके और वीरनिर्वाणके बीचमें ६० वर्षका समय कूणिक आदि राजाओं-का उन्होंने माना ही है। ऐसा मालूम होता है कि पहलेसे वीरनिर्वाणके बाद १५५ वर्षके भीतर नन्दोंका होना माना जाता था परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीरनिर्वाणके ठीक बाद नन्दोंका राज्य प्रारम्भ हुआ, वल्कि उनसे पहिले उदायी तथा कूणिकका राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु इन राज्यों-की अलग अलग वर्ष-गणना साथमें न रहने आदिके कारण बादको गलतीसे १५५ वर्षकी संख्या अकेले नन्दराज्यके लिये रूढ़ हो गई। और उधर पालक राजाके उसी निर्वाण-रात्रिको अभिषिक्त होनेकी जो महज़ एक दूसरे राज्यकी विशिष्ट घटना थी उसके साथमें राज्यकालके ६० वर्ष जुड़कर वह गलती इधर मगधकी काल गणनामें शामिल हो गई। इस तरह दो भूलोंके कारण काल-गणनामें ६० वर्षकी वृद्धि हुई और उसके फलस्वरूप वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्यने इन भूलोंको मालूम किया और उनका उक्त प्रकारसे दो श्लोकोंमें ही सुधार कर दिया है। बैरिष्टर काशीप्रसाद (के. पी.) जी जायसवालने, जार्ल चार्पेंटियरके लेखका विरोध करते हुए, हेमचन्द्राचार्य पर जो यह आपत्ति की है कि उन्होंने महावीरके ...द तुरन्त ही नन्दवंशका राज्य बतला दिया है, और इस कल्पित

आधार पर उनके कथनको 'भूलभरा तथा अप्रामाणिक' तक कह डाला है * उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। हमें तो बैरिष्टर साहबकी ही साफ़ भूल नजर आती है। मालूम होता है उन्होंने न तो हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्वको ही देखा है और न उसके छठे पर्वके उक्त श्लोक नं० २४३ के अर्थ पर ही ध्यान दिया है, जिसमें साफ़ तौर पर वीरनिर्वाणसे ६० वर्षके बाद नन्द राजाका होना लिखा है। अस्तु; चन्द्रगुप्तके राज्यारोहण समयकी १५५ वर्षसंख्यामें आगेके २५५ वर्ष जोड़नेसे ४१० हो जाते हैं, और यही वीरनिर्वाणसे विक्रमका राज्यारोहणकाल है। परन्तु महावीरकाल और विक्रमकालमें ४७० वर्षका प्रसिद्ध अन्तर माना है और वह तभी बन सकता है जब कि इस राज्यारोहणकाल ४१० में राज्यकालके ६० वर्ष भी शामिल किये जावें। ऐसा किया जाने पर विक्रमसम्वत् विक्रमकी मृत्युका सम्वत् हो जाता है और फिर सारा ही झगड़ा मिट जाता है। वास्तवमें, विक्रमसम्वत्को विक्रमके राज्याभिषेकका सम्वत् मान लेनेकी गलतीसे यह सारी गड़बड़ फैली है। यदि वह मृत्युका सम्वत् माना जाता तो पालकके ६० वर्षोंको भी इधर शामिल होनेका अवसर न मिलता और यदि कोई शामिल भी कर लेता तो उसकी भूल शीघ्र ही पकड़ ली जाती। परन्तु राज्याभिषेकके सम्वत्की मान्यताने उस भूलको चिरकाल तक बना रहने दिया। उसीका यह नतीजा है जो बहुतसे ग्रन्थोंमें राज्याभिषेक-संवत्के रूपमें ही विक्रम-संवत्का उल्लेख पाया जाता है और कालगणनामें कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो गई है, जिसे अब अच्छे परिश्रम तथा प्रयत्नके साथ दूर करनेकी जरूरत है।

इसी ग़लती तथा गड़बड़को लेकर और शककालविषयक त्रिलोकसारादिकके वाक्योंका परिचय न पाकर श्रीयुत एस बी. वेंकटेश्वरने, अपने महावीर-समय-सम्बन्धी—The date of Vardhamana नामक—लेख† में यह कल्पना

* देखो, विहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जनरलका सितम्बर सन् १९१५ का अंक तथा जैनसाहित्यसंशोधकके प्रथम खंडका ४ था अंक।

† यह लेख सन् १९१७ के 'जनरल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी-में पृ०१२२-३० पर, प्रकाशित हुआ है और इसका गुजराती अनुवाद जैनसाहित्य-संशोकधके द्वितीय खंडके दूसरे अङ्कमें निकला है।

की है कि महावीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद जिस विक्रमकालका उल्लेख जैन-ग्रन्थोंमें पाया जाता है वह प्रचलित सनन्द-विक्रमसंवत् न होकर अनन्द-विक्रम-संवत् होना चाहिये, जिसका उपयोग १२ वीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि चन्दवरदाई ने अपने काव्यमें किया है और जिसका प्रारम्भ ईसवी सन् ३३ के लगभग अथवा यों कहिये कि पहले (प्रचलित) विक्रम संवत्के ९० या ९१ वर्ष बाद हुआ है। और इस तरह पर यह सुझाया है कि प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत्मेंसे ९० वर्ष कम होने चाहियें—अर्थात् महावीरका निर्वाण ईसवी सन्से ५२७ वर्ष पहले न मानकर ४३७ वर्ष पहले मानना चाहिये, जो किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं। आपने यह तो स्वीकार किया हैं कि प्रचलित विक्रमसंवत्की गणना-नुसार वीरनिर्वाण ई० सन्से ५२७ वर्ष पहले ही बैठता है परन्तु इसे महज़ इस बुनियाद पर असंभवित करार दे दिया है कि इससे महावीरका निर्वाण बुद्ध-निर्वाणसे पहले ठहरता है, जो आपको इष्ट नहीं। परन्तु इस तरह पर उसे असं-भवित क़रार नहीं दिया जा सकता; क्योंकि बुद्धनिर्वाण ई० सन्से ५४४ वर्ष पहले भी माना जाता है, जिसका आपने कोई निराकरण नहीं किया। और इसलिये बुद्धका निर्वाण महावीरके निर्वाणसे पहले होने पर भी आपके इस कथनका मुख्य आधार आपकी यह मान्यता ही रह जाती है कि बुद्ध-निर्वाण ई० सन्से पूर्व ४८५ और ४५३के मध्यवर्ती किसी समयमें हुआ है, जिसके समर्थनमें आपने कोई भी सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया और इसलिये वह मान्य किये जानेके योग्य नहीं। इसके सिवाय, अनन्द-विक्रम-संवत्की जिस कल्पनाको आपने अपनाया है वह कल्पना ही निर्मूल है—अनन्दविक्रम नामका कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं हुआ और न चन्दवरदाईके नामसे प्रसिद्ध होने वाले 'पृथ्वीराजरासे' में ही उसका उल्लेख है—और इस बातको जाननेके लिये रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाका 'अनन्द-विक्रम संवत्की कल्पना' नामका वह लेख पर्याप्त है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके प्रथम भागमें, पृ० ३७७ से ४५४ तक मुद्रित हुआ है।

अब मैं एक बात यहाँ पर और भी बतला देना चाहता हूँ और वह यह कि निर्वाणके...भगवान् महावीरके समकालीन थे। कुछ विद्वानोंने बौद्धग्रंथ मज्झिमनिकाय

के उपालिसुत्त और सामगामसुत्तकी* संयुक्त घटनाको लेकर, जो बहुत कुछ अप्राकृतिक द्वेषमूलक एवं कल्पित जान पड़ती है और महावीर भगवान्के साथ जिसका संबन्ध ठीक नहीं बैठता, यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण बुद्धके निर्वाणसे पहले हुआ है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नहीं होती। खुद बौद्धग्रन्थोंमें बुद्धका निर्वाण अजातशत्रु (कूणिक) के राज्याभिषेकके आठवें वर्षमें बतलाया है; और दीघनिकायमें, तत्कालीन तीर्थंकरोंकी मुलाकातके अवसर पर, अजातशत्रुके मंत्रीके मुखसे निगंठ नातपुत्त (महावीर) का जो परिचय दिलाया है उसमें महावीरका एक विशेषण "अद्धगतो वयो" (अर्धगतवयाः) भी दिया है, जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अजातशत्रुको दिये जाने वाले इस परिचयके समय महावीर अधेड उम्रके थे अर्थात् उनकी अवस्था ५० वर्षके लगभग थी। यह परिचय यदि अजातशत्रुके राज्यके प्रथम वर्षमें ही दिया गया हो, जिसकी अधिक संभावना है, तो कहना होगा कि महावीर अजातशत्रुके राज्यके २२ वें वर्ष तक जीवित रहे हैं; क्योंकि उनकी आयु प्रायः ७२ वर्ष की थी। और इसलिये महावीरका निर्वाण बुद्धनिर्वाणसे लगभग १४ वर्षके बाद हुआ है। 'भगवतीसूत्र' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे भी ऐसा मालूम होता है कि महावीर-निर्वाणसे १६ वर्ष पहले गोशालक (मंखलिपुत्त गोशाल) का स्वर्गवास हुआ, गोशालकके स्वर्गवाससे कुछ वर्ष पूर्व (प्रायः ७ वर्ष पहले) अजातशत्रुका राज्यारोहण हुआ, उसके राज्यके आठवें वर्षमें बुद्ध का निर्वाण हुआ और बुद्धके निर्वाणसे कोई १४-१५ वर्ष बाद अथवा अजातशत्रुके राज्यके २२ वें वर्षमें महावीरका निर्वाण हुआ। इस तरह बुद्धका निर्वाण पहले और महावीरका निर्वाण उसके बाद पाया जाता है †। इसके सिवाय, हेमचन्द्राचार्यने चंद्रगुप्तका राज्यारोहण-समय वीरनिर्वाणसे १५५ वर्ष बाद बतलाया है और 'दीपवंश' 'महावंश' नामके

---

* इन सूत्रोंके हिन्दी अनुवादके लिये देखो, राहुल सांकृत्यायन-कृत 'बुद्धचर्या पृष्ठ ४४५, ४८१।

† देखो, जार्ल चार्पेंटियरका वह प्रसिद्ध लेख जिसका अनुवाद जैनसाहित्य-संशोधकके द्वितीय खंडके दूसरे अङ्कमें प्रकाशित हुआ है और जिसमें बौद्धग्रंथकी उस घटना पर खासी आपत्ति की गई है।

बौद्ध ग्रन्थोंमें वही समय बुद्धनिर्वाणसे १६२ वर्ष बाद बतलाया गया है। इससे भी प्रकृत विषयका कितना ही समर्थन होता है और यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीरनिर्वाणसे बुद्धनिर्वाण अधिक नहीं तो ७-८ वर्षके क़रीब पहले ज़रूर हुआ है।

बहुत संभव है कि बौद्धोंके सामगामसुत्तमें वर्णित निगंठ नातपुत्त (महावीर) की मृत्यु तथा संघभेद-समाचार वाली घटना मक्खलिपुत्त गोशालकी मृत्युसे संबंध रखती हो और पिटक ग्रंथोंको लिपिबद्ध करते समय किसी भूल आदिके वश इस सूत्रमें मक्खलिपुत्तकी जगह नातपुत्तका नाम प्रविष्ट हो गया हो; क्योंकि मक्खलिपुत्तकी मृत्यु—जो कि बुद्धके छह प्रतिस्पर्धी तीर्थंकरोंमेंसे एक था—बुद्धनिर्वाणसे प्राय: एक वर्ष पहले ही हुई है और बुद्धका निर्वाण भी उक्त मृत्युसमाचारसे प्राय: एक वर्ष बाद माना जाता है। दूसरे, जिस पावामें इस मृत्युका होना लिखा है वह पावा भी महावीरके निर्वाणक्षेत्र-वाली पावा नहीं है, बल्कि दूसरी ही पावा है जो बौद्ध पिटकानुसार गोरखपुरके जिलेमें स्थित कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है। और तीसरे, कोई संघभेद भी महावीरके निर्वाणके अनन्तर नहीं हुआ, बल्कि गौशालककी मृत्यु जिस दशामें हुई है उससे उसके संघका विभाजित होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इससे भी उक्त मृत्यु-समाचार-वाली घटनाका महावीरके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता, जिसके आधार पर महावीर-निर्वाणको बुद्धनिर्वाणसे पहले बतलाया जाता है।

बुद्धनिर्वाणके समय-सम्बन्धमें भी विद्वानोंका मतभेद है और वह महावीर-निर्वाणके समयसे भी अधिक विवादग्रस्त चल रहा है; परन्तु लंकामें जो बुद्ध-निर्वाणसम्वत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य किया जाता है—ब्रह्मा, श्याम और आसाममें भी वह माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण ई० सन्से ५४४ वर्ष पहले हुआ है। इससे भी महावीरनिर्वाण बुद्धनिर्वाणके बाद बैठता है; क्योंकि वीरनिर्वाणका समय शकसंवत्से ६०५ वर्ष (विक्रमसम्वत्से ४७० वर्ष) ५ महीने पहले होनेके कारण ईसवी सन्से प्राय: ५२८ वर्ष पूर्व पाया जाता है। इस ५२८ वर्ष पूर्वके समयमें यदि १८ वर्षकी वृद्धि करदी जाय तो वह ५४६ वर्ष पूर्व होजाता है—अर्थात् बुद्धनिर्वाणके उक्त लंकामान्य समयसे दो वर्ष पहले। अत: जिन विद्वानोंने महावीरके निर्वाणको बुद्धनिर्वाणसे पहले मान लेने की

वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाणसम्वत्में १८ वर्षकी वृद्धिका विधान किया है वह भी इस हिसाबसे ठीक नहीं है।

उपसंहार

यहाँ तकके इस सम्पूर्ण विवेचन परसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि आज कल जो वीरनिर्वाणसम्वत् २५६० प्रचलित है वही ठीक है—उसमें न तो बैरिष्टर के० पी० जायसवाल जैसे विद्वानोंके कथनानुसार १८ वर्षकी वृद्धि की जानी चाहिए और न जार्ल चार्पेटियर जैसे विद्वानोंकी धारणानुसार ६० वर्ष की अथवा एस० वी० वेंकटेश्वरकी सूचनानुसार ९० वर्षकी कमी ही की जानी उचित है। वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। हाँ, उसे गत सम्वत् समझना चाहिये—जैनकाल-गणनामें वीरनिर्वाणके गतवर्ष ही लिये जाते रहे हैं—ईसवी सन् आदिकी तरह वह वर्तमान सम्वत्का द्योतक नहीं है। क्योंकि गत कार्तिकी अमावस्याको शकसम्वत्के १८५४ वर्ष ७ महीने व्यतीत हुए थे और शकसम्वत् महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रवर्तित हुआ है, यह ऊपर बतलाया जा चुका है; इन दोनों संख्याओंके जोड़नेसे पूरे २४६० वर्ष होते हैं। इतने वर्ष महावीरनिर्वाणको हुए गत कार्तिकी अमावस्याको पूरे हो चुके हैं और गत कार्तिकशुक्ला प्रतिपदासे उसका २४६१ वाँ वर्ष चल रहा है। यही आधुनिक सम्वत्-लेखन पद्धतिके अनुसार वर्तमान वीरनिर्वाण सम्वत् है। और इसलिये इसके अनुसार महावीरको जन्म लिये हुए २५३१ वर्ष बीत चुके हैं और इस समय गत चैत्रशुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० १९९० शक सं० १८५५) से, आपकी इस वर्षगांठका २५३२ वाँ वर्ष चल रहा है और जो समाप्तिके क़रीब है। इत्यलम्।

२

वीरनिर्वाणसंवत्की समालोचनापर विचार

श्रीयुत् पंडित ए० शान्तिराजजी शास्त्री आस्थान विद्वान् मैसूर राज्यने 'भगवान् महावीरके निर्वाण-सम्वत्की समालोचना' शीर्षक एक लेख संस्कृत भाषा में लिखा है, जो हिन्दी जैनगजटके गत दीपमालिकाङ्क (वर्ष ४७ अंक १)-में प्रकाशित हुआ है और जिसका हिन्दी अनुवाद 'अनेकान्त' वर्ष ४ की किरण १० में प्रकाशित किया जा रहा है। जैनगजटके सहसम्पादक पं० सुमेरचन्दजी 'दिवाकर' और 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के सम्पादक पं० के० भुजबली शास्त्री आदि कुछ विद्वान् मित्रोंका अनुरोध हुआ कि मुझे उक्त लेखपर अपना विचार जरूर प्रकट करना चाहिये। तदनुसार ही मैं यहाँ अपना विचार प्रकट करता हूँ।

इस लेखमें मूल विषयको छोड़कर दो बातें खास तौरपर आपत्तिके योग्य हैं—एकतो शास्त्रीजीने 'अनेकान्त' आदि दिगम्बर समाजके पत्रोंमें उल्लिखित की जाने वाली वीरनिर्वाण-सम्वत्की संख्याको मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका अनुसरण बतलाया है; दूसरे इन पंक्तियोंके लेखक तथा दूसरे दो संशोधक विद्वानों (प्रो० ए० एन० उपाध्याय और पं० नाथूरामजी 'प्रेमी') के ऊपर यह मिथ्या आरोप लगाया है कि इन्होंने बिना विचारे ही (गतानुगतिक रूपसे) श्वेताम्बर-सम्प्रदायी मार्गका अनुसरण किया है। इस विषयमें सबसे पहले मैं इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि 'भगवान् महावीरके निर्वाणको आज कितने वर्ष व्यतीत हुए ?' यह एक शुद्ध ऐतिहासिक प्रश्न है—किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताके साथ इसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसे साम्प्रदायिक मान्यताका रूप देना और इस तरह दिगम्बर समाजके हृदयमें अपने लेखका कुछ महत्त्व स्थापित करनेकी

चेष्टा करना ऐतिहासिक क्षेत्रमें कदम बढ़ानेवालोंके लिये अनुचित है। श्वेताम्बर समाजके भी कितने ही विद्वानोंने ऐतिहासिक दृष्टिसे ही इस प्रश्नपर विचार किया है, जिनमें मुनि कल्याणविजयजीका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। इन्होंसे 'वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन कालगणना' नामका एक गवेषणात्मक विस्तृत निबन्ध १८५ पृष्ठ का लिखा है, और उसमें कालगणनाकी कितनी ही भूलें प्रकट की गई हैं। यह निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के १०वें तथा ११वें भागमें प्रकाशित हुआ है। यदि यह प्रश्न केवल साम्प्रदायिक मान्यताका ही होता तो मुनिजीको इसके लिये इतना अधिक ऊहापोह तथा परिश्रम करनेकी जरूरत न पड़ती। अस्तु।

मुनि कल्याणविजयजीके उक्त निबन्धसे कोई एक वर्ष पहिले मैंने भी इस विषयपर 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था, जो चैत्र शुक्ल त्रयोदशी संवत् १९८६ को होनेवाले महावीर-जयन्तीके उत्सवपर देहलीमें पढ़ा गया था और बादको प्रथमवर्षके 'अनेकान्त' की प्रथम किरणमें अग्रस्थान पर प्रकाशित किया गया था *। इस निबन्धमें प्रकृत विषयका कितना अधिक ऊहापोहके साथ विचार किया गया है, प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत् पर होनेवाली दूसरे विद्वानोंकी आपत्तियोंका कहाँ तक निरसन कर गुत्थियोंको सुलझाया गया है, और साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़ अर्थ समझनेकी गलती अथवा कालगणनाकी कुछ भूलोंको कितना स्पष्ट करके बतलाया गया है, ये सब बातें उन पाठकोंसे छिपी नहीं हैं जिन्होंने इस निबन्धको गौरके साथ पढ़ा है। इसीसे 'अनेकान्त' में प्रकाशित होते ही अच्छे-अच्छे जैन-अजैन विद्वानोंने 'अनेकान्त' पर दी जाने वाली अपनी सम्मितियोंमें† इस निबन्धका अभिनन्दन किया था और इसे महत्वपूर्ण, खोजपूर्ण, गवेषणापूर्ण, विद्वत्तापूर्ण, बड़े मार्केका, अत्युत्तम, उपयोगी, आवश्यक और मननीय लेख प्रकट किया था। कितने ही

---

* सन् १९३४ में यह निबन्ध संशोधित तथा परिवर्धित होकर और धवल जयधवलके प्रमाणोंको भी साथमें लेकर अलग पुस्तकाकार रूपसे छप चुका है।

† ये सम्मतियाँ 'अनेकान्तपर लोकमत' शीर्षकके नीचे 'अनेकान्त' के प्रथम-वर्षकी किरणोंमें प्रकाशित हुई हैं।

विद्वानोंने इसपरसे अपनी भूलको सुधार भी लिया था। मुनि कल्याणविजयजीने सूचित किया था—"आपके इस लेखकी विचार-सरणी भी ठीक है।" और पं० नाथूरामजी प्रेमीने लिखा था—"आपका वीरनिर्वाण-संवत् वाला लेख बहुत ही महत्वका है और उससे अनेक उलझनें सुलझ गई हैं।" इस निबन्धके निर्णयानुसार ही 'अनेकान्त' में 'वीर-निर्वाण-संवत्' का देना प्रारम्भ किया था, जो अब तक चालू है। इतने पर भी शास्त्रीजीका मेरे ऊपर यह आरोप लगाना कि मैंने **'बिना विचार किये ही'** (गतानुगतिक रूपसे) दूसरोंके मार्गका अनुसरण किया है' कितना अधिक अविचारित, अनभिज्ञतापूर्ण तथा आपत्तिके योग्य है और उसे उनका **'अतिसाहस'** के सिवाय और क्या कहा जा सकता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी और वे भविष्यमें इस प्रकारके निर्मूल आक्षेपोंसे बाज आएँगे।

अब मैं लेखके मूल विषयको लेता हूं और उस पर इस समय सरसरी तौर पर अपना कुछ विचार व्यक्त करता हूं। आवश्यकता होनेपर विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।

शास्त्रीजीने त्रिलोकसारकी 'पण-छस्सद-वस्सं पणमासजुदं' नामकी प्रसिद्ध गाथाको उद्धृत करके प्रथम तो यह बतलाया है कि इस गाथामें उल्लिखित 'शकराज' शब्दका अर्थ कुछ विद्वान तो शालिवाहन राजा मानते हैं और दूसरे कुछ विद्वान विक्रमराजा। जो लोग विक्रमराजा अर्थ मानते हैं उनके हिसाबसे इस समय (गत दीपमालिकासे पहले※) वीर निर्वाण संवत् २६०४ आता है, और जो लोग शालिवाहन राजा अर्थ मानते हैं उनके अर्थानुसार वह २४६९ बैठता है, परन्तु वे लिखते हैं २४६७; इस तरह उनकी गणनामें दो वर्षका अन्तर (व्यत्यास) तो फिर भी रह जाता है। साथ ही अपने लेखके समय प्रचलित विक्रम संवत्को १९९९ और शालिवाहनशकको १८६४ बतलाया है तथा दोनों

※ शास्त्रीजीका लेख गत दीपमालिका (२० अक्तूबर १९४१) से पहलेका लिखा हुआ है, अतः उनके लेखमें प्रयुक्त हुए 'सम्प्रति' (इस समय) शब्दका वाच्य गत दीपमालिकासे पूर्वका निर्वाणसंवत् है, वही यहाँपर तथा आगे भी **'इस समय'** शब्दका वाच्य समझना चाहिये—न कि इस लेखके लिखनेका समय।

के अन्तरको १३६ वर्षका घोषित किया है। परन्तु शास्त्रीजीका यह लिखना ठीक नहीं है—न तो प्रचलित विक्रम तथा शक संवत्की वह संख्या ही ठीक है जो आपने उल्लेखित की है और न दोनों संवतोंमें १३६ वर्षका अन्तर ही पाया जाता है, बल्कि अन्तर १३५ वर्षका प्रसिद्ध है और वह आपके द्वारा उल्लिखित विक्रम तथा शक संवतोंकी संख्याओं (१९९९-१८६४=१३५) से भी ठीक जान पड़ता है। बाकी विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ उस समय तो क्या अभी तक प्रचलित नहीं हुए हैं—काशी आदिके प्रसिद्ध पंचांगोंमें वे क्रमशः १९९८ तथा १८६३ ही निर्दिष्ट किये गये है। इस तरह एक वर्षका अन्तर तो यह सहज हीमें निकल आता है। और यदि इधर सुदूर दक्षिण देशमें इस समय विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ ही प्रचलित हो, जिसका अपनेको ठीक हाल मालूम नहीं, तो उसे लेकर शास्त्रीजीको उत्तर भारतके विद्वानोंके निर्णयपर आपत्ति नहीं करनी चाहिये थी—उन्हें विचारके अवसरपर विक्रम तथा शक संवत्की वही संख्या ग्रहण करनी चाहिये थी जो उन विद्वानोंके निर्णयका आधार रही है और उस देशमें प्रचलित है जहां वे निवास करते हैं। ऐसा करने पर भी एक वर्षका अन्तर स्वतः निकल जाता। इसके विपरीत प्रवृत्ति करना विचार-नीतिके विरुद्ध है।

अब रही दूसरे वर्षके अन्तरकी बात, मैंने और कल्याणविजयजीने अपने अपने उक्त निबन्धोंमें प्रचलित निर्वाण संवत्के अंकसमूहको गत वर्षोंका वाचक बतलाया है—ईसवी सन् आदिकी तरह वर्तमान वर्ष का द्योतक नहीं बतलाया—और वह हिसाबसे महीनों की भी गणना साथमें करते हुए ठीक ही है। शास्त्री-जीने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और ६०५ के साथमें शक संवत्की विवादा-पन्न संख्या १८६४ को जोड़कर वीरनिर्वाण-संवत्को २४६९ बना डाला है! जबकि उन्हें चाहिये था यह कि वे ६०५ वर्ष ५ महीनेमें शालिवाहन शकके १८६२ वर्षोंको जोड़ते जो काशी आदिके प्रसिद्ध पंचाङ्गानुसार शक सम्वत् १८६३ के प्रारम्भ होनेके पूर्व व्यतीत हुए थे, और इस तरह चैत्रशुक्ला प्रतिपदा के दिन वीरनिर्वाणको हुए २४६७ वर्ष ५ महीने बतलाते। इससे उन्हें एक भी वर्षका अन्तर कहनेके लिये अवकाश न रहता; क्योंकि ऊपरके पांच महीने चालू वर्षके हैं, जब तक बारह महीने पूरे नहीं होते तब तक उनकी गणना वर्षमें नहीं

की जाती। और इस तरह उन्हें यह बात भी जँच जाती कि जैन कालगणनामें वीरनिर्वाणके गत वर्ष ही लिये जाते रहे हैं। इसी बातको दूसरी तरहसे यों भी समझाया जा सकता है कि गत कार्तिकी अमावस्याको शक सम्वत्के १८६२ वर्ष ७ महीने व्यतीत हुए थे, और शक सम्वत् महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रवर्तित हुआ है। इन दोनों संख्याओंको जोड़ देनेसे पूरे २४६८ वर्ष होते हैं। इतने वर्ष महावीरनिर्वाणको हुए गत कार्तिकी अमावस्याको पूरे हो चुके हैं और गत कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे उसका २४६६ वाँ वर्ष चल रहा है; परन्तु इसको चले अभी डेढ़ महीना ही हुआ है और डेढ़ महीनेकी गणना एक वर्षमें नहीं की जा सकती, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वर्तमानमें वीरनिर्वाणको हुए २४६६ वर्ष व्यतीत हुए हैं बल्कि यही कहा जायगा कि २४६८ वर्ष हुए हैं। अतः 'शकराजा' का शालिवाहन राजा अर्थ करनेवालोंके निर्णयानुसार वर्तमानमें प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् २४६८ गताब्द के रूपमें है और उसमें गणनानुसार दो वर्षका कोई अन्तर नहीं है—वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। अस्तु।

त्रिलोकसारकी उक्त गाथाको उद्धृत करके और 'शकराज' शब्दके सम्बन्धमें विद्वानोंके दो मतभेदोंको बतलाकर, शास्त्रीजीने लिखा है कि "इन दोनों पक्षोंमें कौनसा ठीक है, यही समालोचनाका विषय है (उभयोरनयोः पक्षयोः कतरो याथातथ्यमुपगच्छतीति समालोचनीयः)," और इसतरह दोनों पक्षोंके सत्यासत्यके निर्णयकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा तथा लेखके शीर्षकमें पड़े हुए 'समालोचना' शब्दको और दूसरे विद्वानोंपर किये गये तीव्र आक्षेपको देख कर यह आशा होती थी कि शास्त्रीजी प्रकृत विषयके संबन्धमें गंभीरताके साथ कुछ गहरा विचार करेंगे, किसने कहाँ भूल की है उसे बतलाएँगे और चिरकालसे उलझी हुई समस्याका कोई समुचित हल करके रक्खेंगे। परन्तु प्रतिज्ञाके अनन्तरके वाक्य और उसकी पुष्टिमें दिये हुए आपके पाँच प्रमाणोंको देखकर वह सब आशा धूलमें मिल गई, और यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि आप प्रतिज्ञाके दूसरे क्षण ही निर्णायकके आसनसे उतरकर एक पक्षके साथ जा मिले हैं अथवा तराजूके एक पलड़ेमें जा बैठे हैं और वहाँ खड़े होकर यह कहने लगे हैं कि हमारे पक्षके अमुक व्यक्तियोंने जो बात कही है वही ठीक है; परन्तु वह क्यों ठीक है ? कैसे ठीक है ? और दूसरोंकी बात ठीक क्यों नहीं है ? इन

सब बातोंके निर्णयको आपने एकदम भुला दिया है !! यह निर्णयकी कोई पद्धति नहीं और न उलझी हुई समस्याओंको हल करनेका कोई तरीक़ा ही है। आपके वे पंच प्रमाण इस प्रकार हैं :—

(१) दिगम्बर जैनसंहिताशास्त्रके संकल्प-प्रकरणमें विक्रमराजाका ही उल्लेख पाया जाता है, शालिवाहनका नहीं।

(२) त्रिलोकसार ग्रन्थकी माधवचन्द्र-त्रैविद्यदेवकृत संस्कृत-टीकामें शकराज शब्दका अर्थ विक्रमराजा ही उल्लिखित है।

(३) पं० टोडरमलजी कृत हिन्दी टीकामें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

"श्री वीरनाथ चौबीसवाँ तीर्थंकरको मोक्ष प्राप्त होनेतैं पीछै छसैपाँच वर्ष पांच मास सहित गए विक्रमनाम शकराज हो है। बहुरि तातैं उपरि च्यारि नव तीन इन अंकनि करि तीनसै चौराणवै वर्ष और सात मास अधिक गए कल्की हो है"...८५०...

इस उल्लेखसे भी शकराजाका अर्थ विक्रमराजा ही सिद्ध होता है।

(४) मिस्टर राइस-सम्पादित श्रवणबेलगोलकी शिलाशासन पुस्तकमें १४१ नं० का एक दानपत्र है, जिससे कृष्णराज तृतीय (मुम्मडि, कृष्णराज ओडेयर) ने आजसे १११ वर्ष पहले क्रिस्ताब्द १८३० में लिखाया है। उसमें निम्न श्लोक पाए जाते हैं—

"नानादेशनृपालमौलिविलसन्माणिक्यरत्नप्रभा-।
भास्वत्पादसरोजयुग्मरुचिरः श्रीकृष्णराजप्रभुः ॥
श्रीकर्णाटकदेशभासुरमहीशूरस्थसिंहासनः।
श्रीचामक्षितिपालसूनुरवनौ जीयात्सहस्रं समाः ॥
स्वस्ति श्रीवर्द्धमानाख्ये, जिने मुक्तिं गते सति।
वह्निरंध्राब्धिनेत्रैश्च (२४९३) वत्सरेषु मितेषु वै ॥
विक्रमाङ्कसमास्विंदुगजसामजहस्तिभिः (१८८८)।
सतीषु गणनीयासु गणितज्ञै र्बुधैस्तदा ॥
शालिवाहनवर्षेषु नेत्रबाणनगेंदुभिः (१७५२)।
प्रमितेषु विकृत्यब्दे श्रावणे मासि मंगले ॥" इत्यादि—

इन श्लोकोंमें उल्लिखित हुए महावीर-निर्वाणाब्द, विक्रमशकाब्द और शालिवाहनशकाब्द इस बातको दृढ़ करते है कि शकराज शब्दका अर्थ विक्रम-राजा ही है। महावीर-निर्वाणाब्द २४९३ की संख्यामें दानपत्रकी उत्पत्तिकालके १११ वर्षोंको मिला देनेपर इस समय वीरनिर्वाणसम्वत् २६०४ हो जाता है। और विक्रम शकाब्दकी संख्या १८८८ को दानपत्रोत्पत्तिकाल १११ वर्षके साथ जोड़ देने से इस समय विक्रमशकाब्द १९९९ आ जाता है।

(५) चामराजनगरके निवासी पं० ज्ञानेश्वर द्वारा प्रकाशित जैन पंचांगमें भी यही २६०४ वीरनिर्वाणब्द उल्लिखित है।

इन पाँच प्रमाणोंमेंसे नं० २ और ३ में तो दो टीकाकारोंके अर्थका उल्लेख है जो गलत भी हो सकता है, और इसलिये वे टीकाकार अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें ही आजाते हैं। दूसरे दो प्रमाण नं० ४, ५ टीकाकारोंमेंसे किसी एकके अर्थ का अनुसरण करनेवालोंकी कोटिमें रक्खे जा सकते हैं। इस तरह ये चारों प्रमाण 'शकराज' का गलत अर्थ करनेवालों तथा गलत अर्थका अनुसरण करने-वालोंके भी हो सकनेसे इन्हें अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें रखनेके सिवाय निर्णयके क्षेत्रमें दूसरा कुछ भी महत्व नहीं दिया जा सकता और न निर्णयपर्यन्त इनका दूसरा कोई उपयोग ही किया जा सकता है। मुकाबलेमें ऐसे अनेक प्रमाण रक्खे जा सकते हैं जिनमें 'शकराज' शब्दका अर्थ शालिवाहन राजा मान कर ही प्रवृत्ति की गई है। उदाहरणके तौर पर पाँचवें प्रमाणके मुकाबलेमें ज्योतिष-रत्न पं० जियालालजी दि० जैनके सुप्रसिद्ध 'असली पंचाङ्ग' को रक्खा जा सकता है, जिसमें वीरनिर्वाण सं० २४६७ का स्पष्ट उल्लेख है—२६०४ की वहाँ कोई गंध भी नहीं है।

रहा शास्त्रीजीका पहला प्रमाण, उसकी शब्दरचना परसे यह स्पष्ट मालूम नहीं होता कि शास्त्रीजी उसके द्वारा क्या सिद्ध करना चाहते हैं। उल्लिखित संहिताशास्त्रका आपने कोई नाम भी नहीं दिया, न यह बतलाया कि वह किसका बनाया हुआ है और उसमें किस रूपसे विक्रम राजाका उल्लेख आया है वह उल्लेख उदाहरणपरक है या विधिपरक, और क्या उसमें ऐसा कोई आदेश है कि संकल्पमें विक्रम राजाका ही नाम लिया जाना चाहिये—शालिवाहनका नहीं, अथवा जैनियोंको संकल्पादि सभी अवसरों पर—जिसमें ग्रन्थरचना भी

शामिल है—विक्रम संवत्का ही उल्लेख करना चाहिये, शक-शालिवाहन का नहीं ? कुछ तो बतलाना चाहिये था, जिससे इस प्रमाणकी प्रकृतविषयके साथ कोई संगति ठीक बैठती । मात्र किसी दिगम्बर ग्रन्थमें विक्रम राजाका उल्लेख आजाने और शालिवाहन राजाका उल्लेख न होनेसे यह नतीजा तो नहीं निकाला जा सकता कि शालिवाहन नामका कोई शक राजा हुआ ही नहीं अथवा दिगम्बर साहित्यमें उसके शक संवत्का उल्लेख ही नहीं किया जाता । ऐसे कितने ही दिगम्बर ग्रन्थ प्रमाणमें उपस्थित किये जासकते हैं जिनमें स्पष्टरूपसे शालिवाहनके शकसंवत्का उल्लेख है । ऐसी हालतमें यदि किसी संहिताके संकल्पप्रकरणमें उदाहरणादिरूपसे विक्रमराजाका अथवा उसके संवत्का उल्लेख आ भी गया है तो वह प्रकृत विषयके निर्णयमें किस प्रकार उपयोगी हो सकता है, यह उनके इस प्रमाणसे कुछ भी मालूम नहीं होता, और इसलिये इस प्रमाणका कुछ भी मूल्य नहीं है । इस तरह आपके पाँचों ही प्रमाण विवादापन्न विषयकी गुत्थीको सुलझानेका कोई काम न करनेसे निर्णयक्षेत्रमें कुछ भी महत्त्व नहीं रखते; और इसलिये उन्हें प्रमाण न कहकर प्रमाणाभास कहना चाहिये ।

कुछ पुरातन विद्वानोंने 'शकराजा' का अर्थ यदि विक्रम राजा कर दिया है तो क्या इतनेसे ही वह अर्थ ठीक तथा ग्राह्य होगया ? क्या पुरातनोंसे कोई भूल तथा गलती नहीं होती और नहीं हुई है ? यदि नहीं होती और नहीं हुई है तो फिर पुरातनों-पुरातनों में ही कालगणनादिके सम्बन्धमें मतभेद क्यों पाया जाता है ? क्या वह मतभेद किसी एककी गलतीका सूचक नहीं है ? यदि सूचक है तो फिर किसी एक पुरातनने यदि गलतीसे 'शकराजा' का अर्थ 'विक्रमराजा' कर दिया है तो मात्र पुरातन होनेकी वजहसे उसके कथनको प्रमाण-कोटिमें क्यों रक्खा जाता है और दूसरे पुरातन कथनकी उपेक्षा क्यों की जाती है ? शक राजा अथवा शककालके ही विषयमें दिगम्बर साहित्यमें पाँच पुरातन मतों-का उल्लेख मिलता है, जिनमेंसे चार मत तो त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाये जाते हैं और उनमें सबसे पहला मत वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाता है * । तीन मत 'धवल' ग्रन्थमें उपलब्ध होते हैं, जिनमेंसे दो तो

* वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद-इगसट्ठि-वासपरिमाणे ।
कालम्मिअदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥

त्रिलोकप्रज्ञप्ति वाले ही हैं और एक उनसे भिन्न है। श्रीवीरसेनाचार्यने 'धवल' में इन तीनोंमतोंको उद्धृत करनेके बाद लिखा है—

"एदेसु तिसु एक्केण होदव्वं, ण तिण्णमुवदेसाणसच्चत्तं अण्णोण्ण-विरोहादो। तदो जाणिय वत्तव्वं।"

अर्थात्—इन तीनोंमेंसे एक ही कथन ठीक होना चाहिये, तीनों कथन सच्चे नहीं हो सकते; क्योंकि तीनोंमें परस्पर विरोध है। अतः जान करके—अनुसंधान करके—वर्तना चाहिये।

इस आचार्यवाक्यसे भी स्पष्ट है कि पुरातन होनेसे ही कोई कथन सच्चा तथा मान्य नहीं हो जाता। उसमें भूल तथा गलतीका होना संभव है, और इसीसे अनुसन्धान-पूर्वक जाँच-पड़ताल करके उसके ग्रहण-त्यागका विधान किया गया है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका पुरातनोंकी बातें करते हुए एक पक्षका हो रहना और उसे बिना किसी हेतुके ही यथार्थ कह डालना विचार तथा समालोचनाकी कोरी विडम्बना है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर प्रचलित वीर-निर्वाण संवत्की मान्यताके विषयमें दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। दोनों ही वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकशालि-वाहनके संवत्की उत्पत्ति मानते हैं। धवल-सिद्धान्तमें श्रीवीरसेनाचार्यने श्रीवीर-निर्वाण संवत्को मालूम करनेकी विधि बतलाते हुए प्रमाणरूपसे जो एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है वह इस प्रकार है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण सहिया थावेयव्वो तदो रासी।

इसमें बतलाया है कि—'शककालकी संख्याके साथ यदि ३०५ वर्ष ५ महीने जोड़ दिये जावें तो वीरजिनेन्द्रके निर्वाणकालकी संख्या आ जाती है।' इस गाथाका पूर्वार्ध, जो वीरनिर्वाणसे शककाल (संवत्) की उत्पत्तिके समयको सूचित करता है, श्वेताम्बरोंके 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक निम्न गाथाका भी पूर्वार्ध है, जो वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाती है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिणिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पण्णो सगो राया ॥ ६२३ ॥

यहाँ शकराजका जो उत्पन्न होना कहा है उसका अभिप्राय शककालके उत्पन्न होने अर्थात् शकसंवत्के प्रवृत्त (प्रारम्भ) होनेका है, जिसका समर्थन 'विचार-श्रेणि' में श्वेताम्बराचार्य श्री मेरुतुंग-द्वारा उद्धृत निम्न वाक्यसे भी होता है—

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

इस तरह महावीरके इस निर्वाण-समय-सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी एक वाक्यता पाई जाती है। और इसलिये शास्त्रीजीका दिगम्बर समाजके संशोधक विद्वानों तथा सभी पत्र-सम्पादकोंपर यह आरोप लगाना कि उन्होंने इस विषयमें मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका ही अनुसरण किया है—उसीकी मान्यतानुसार वीरनिर्वाणसंवत्का उल्लेख किया है—बिल्कुल ही निराधार तथा अविचारित है।

ऊपरके उद्धृत वाक्योंमें 'शककाल' और 'शाकसंवत्सर' जैसे शब्दोंका प्रयोग इस बातको भी स्पष्ट बतला रहा है कि उनका अभिप्राय 'विक्रमकाल' अथवा 'विक्रमसंवत्सर' से नहीं है, और इसलिये 'शकराजा' का अर्थ विक्रमराजा नहीं लिया जा सकता। विक्रमराजा वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है जैसा कि दिगम्बर नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सत्तरचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ❀।

इसमें भी विक्रमजन्मका अभिप्राय विक्रमकाल अथवा विक्रमसंवत्सरकी उत्पत्तिका है। श्वेताम्बरोंके 'विचारश्रेणि' ग्रन्थमें भी इसी आशयका वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

विक्कमरज्जारंभा पुरओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।

❀ यह वाक्य 'विक्रमप्रबन्ध' में भी पाया गया है। इसमें स्थूल रूपसे—महीनोंकी संख्याको साथमें न लेते हुए—वर्षोंकी संख्याका ही उल्लेख किया है; जैसाकि 'विचारश्रेणी' में उक्त 'श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः' वाक्यमें शककालके वर्षोंका ही उल्लेख है।

सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥

यहाँ पर एक प्राचीन दिगम्बर वाक्य और भी उद्धृत किया जाता है जो वीरनिर्वाणसे विक्रमकालकी उत्पत्तिको स्पष्टरूपसे ४७० वर्ष बाद बतलाता है और कविवर वीरके, संवत् १०७६ में बनकर समाप्त हुए, जम्बूस्वामिचरितमें पाया जाता है—

वरिसाणसयचउक्कं सत्तरिजुत्तं जिणेंदवीरस्स ।
णिव्वाणा उववण्णो विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥

जब वीरनिर्वाणकाल और विक्रमकालके वर्षोंका अन्तर ४७० है तब निर्वाणकालसे ६०५ वर्ष बाद होने वाले शक राजा अथवा शककालको विक्रमराजा या विक्रमकाल कैसे कहा जा सकता है ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। वैसे भी 'शक' शब्द आम तौर पर शालिवाहन राजा तथा उसके संवत्के लिये व्यवहृत होता है, इस बातको शास्त्रीजीने भी स्वयं स्वीकार किया है, और वामन शिवराम आप्टे (V. S. APTE) के प्रसिद्ध कोषमें भी इसे Specially applied to Salivahan जैसे शब्दोंके द्वारा शालिवाहनराजा तथा उसके संवत् (era) का वाचक बतलाया है। विक्रमराजा 'शक' नहीं था, किन्तु 'शकारि' = 'शकशत्रु' था, यह बात भी उक्त कोषसे जानी जाती है। इसलिये जिन जिन विद्वानोंने 'शकराज' शब्दका अर्थ 'शकराजा' न करके 'विक्रमराजा' किया है उन्होंने जरूर गलती खाई है। और यह भी संभव है कि त्रिलोकसारके संस्कृत-टीकाकार माधवचन्द्रने 'शकराजो' पदका अर्थ शकराजा ही किया हो, बादको 'शकराजः' से पूर्व 'विक्रमांक' शब्द किसी लेखककी गलतीसे जुड़ गया हो और इस तरह वह गलती उत्तरवर्ती हिन्दी टीकामें भी पहुँच गई हो, जो प्रायः संस्कृत टीकाका ही अनुसरण है। कुछ भी हो, त्रिलोकसार की उक्त गाथा नं० ८५० में प्रयुक्त हुए 'शकराज' शब्दका अर्थ शकशालिवाहनके सिवाय और कुछ भी नहीं है, इस बातको मैंने अपने उक्त 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट करके बतलाया है, और भी दूसरे *विद्वानोंकी कितनी ही आपत्तियोंका निरसन करके सत्यका स्थापन* किया है।

अब रही शास्त्रीजीकी यह बात, कि दक्षिण देशमें महावीरशक, विक्रम-शक और क्रिस्तशकके रूपमें भी 'शक' शब्दका प्रयोग किया जाता है, इससे भी उनके प्रतिपाद्य विषयका कोई समर्थन नहीं होता। वे प्रयोग तो इस बातको सूचित करते हैं कि शालिवाहन शककी सबसे अधिक प्रसिद्धि हुई है और इस लिये बादको दूसरे सन्-संवतोंके साथ भी 'शक' का प्रयोग किया जाने लगा और वह मात्र 'वत्सर' या 'संवत्' अर्थका वाचक हो गया। उसके साथ लगा हुआ महावीर, विक्रम या क्रिस्त विशेषण ही उसे दूसरे अर्थमें ले जाता है, खाली 'शक' या 'शकराज' शब्दका अर्थ महावीर, विक्रम अथवा क्रिस्त (क्राइस्ट=ईसा) का या उनके सन्-संवतोंका नहीं होता। त्रिलोकसारकी गाथामें प्रयुक्त हुए शकराज शब्दके पूर्व चूंकि 'विक्रम' विशेषण लगा हुआ नहीं है, इस लिये दक्षिण देशकी उक्त रूढिके अनुसार भी उसका अर्थ 'विक्रमराजा' नहीं किया जा सकता।

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचनपरसे स्पष्ट है कि शास्त्रीजीने प्रकृत विषयके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी सार तथा दम नहीं है। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी, और जिन लोगोंने आपके लेखपरसे कुछ गलत धारणा की होगी वे भी इस विचारलेखपरसे उसे सुधारनेमें समर्थ हो सकेंगे।

३

वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्रीवीरभगवान्के शासनतीर्थको उत्पन्न हुए आज कितना समय होगया, किस शुभवेलामें अथवा पुण्य-तिथिको उसका जन्म हुआ और किस स्थान पर वह सर्वप्रथम प्रवर्तित किया गया, ये सब बातें ही आजके मेरे इस लेखका विषय हैं, जिन्हें भावी वीरशासन-जयन्ती-महोत्सवके लिये जान लेना सभीके लिये आवश्यक है। इस सम्बन्धमें अब तक जो गवेषणाएँ (Researches) हुई हैं उनका सार इस प्रकार है:—

किसी भी जैनतीर्थंकरका शासनतीर्थ केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले प्रवर्तित नहीं होता—तीर्थप्रवृत्तिके पूर्वमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका होना आवश्यक है। वीरभगवानको उस केवलज्ञानज्योतिकी संप्राप्ति बैसाख सुदि दशमीको अपराह्णके समय उस वक्त हुई थी जबकि आप जृम्भिका ग्रामके बाहिर, ऋजुकुलानदीके किनारे, शालवृक्षके नीचे, एक शिलापर षष्ठोपवाससे युक्त हुए क्षपक-श्रेणीपर आरूढ थे—आपने शुक्लध्यान लगा रक्खा था। जैसा कि नीचे लिखे वाक्योंसे प्रकट है—

उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे वहिं सिलावट्टे ।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायछायाए ॥
वइसाहजोण्ह-पक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो ।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥

—धवल-जयधवलमें उद्धृत प्राचीनगाथाएँ ।

ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥ ११ ॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

—श्रीपूज्यपाद-सिद्धिभक्तिः

वइसाहसुद्धदसमी-माघा-रिक्खम्हि वीरणाहस्स ।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥

—तिलोयपण्णत्ती ४-७०१

जंभिय-वहि उजुवालिय तीर वियावत्त सामसालअहे ।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पण्णं केवलं णाणं ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति ५२६ पृ० २२७

जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ उसकी उत्पत्तिके अनन्तर, देवतागण आते हैं, भूत-भविष्यत् वर्तमानरूप सकल चराऽचरके ज्ञाता केवलज्ञानी जिनेन्द्रकी पूजा करते हैं—महिमा करते हैं—और उनके उपदेशके लिये शक्राज्ञासे समवसरण-सभाकी रचना करते हैं †, ऐसी साधारण जैन मान्यता है। इस मान्यताके अनुसार जृंभकाके पास ऋजुकूला नदीके किनारे बैसाख सुदि दशमीको देवतागणने आकर वीरभगवानकी पूजाकी–महिमा की* और उनके उपदेशके लिये—तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त—समवसरण-सभाकी सृष्टि भी की, यह स्वतः फलित हो जाता है। परन्तु इस प्रथम समवसरणमें वीरभगवानका शासनतीर्थ प्रवर्तित नहीं हुआ, यह बात श्वेताम्बर सम्प्रदायको भी मान्य है, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे ।
उप्पण्णो उ जिणाणं, वीरजिणिंदस्स बीयम्मि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, २६५ पृ० १४०

† ताहे सक्काणाए जिणाण सयलाण समवसरणाणि ।
विक्किरियाए धनदो विरएदि विचित्तरूवेहिं ॥ —तिलोयप० ४-७१०

* केवलस्य प्रभावेण सहसा चलितासनाः ।
आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुराऽसुराः ॥ —जिनसेन-हरिवंशपु० २-६०

आद्ये समवसरणे सर्वेषामर्हतामिह ।
उत्पन्नं तीर्थमन्त्यस्य जिनेन्द्रस्य द्वितीयके ॥ १७-३२

—लोकप्रकाश, खं० ३

इनमें श्री वीर-जिनेन्द्रके तीर्थको द्वितीय समवसरणमें उत्पन्न हुआ बतलाया है, जबकि शेष सभीजैन तीर्थंकरोंका तीर्थ प्रथम समवसरणमें उत्पन्न हुआ है। श्वेताम्बरीय आगमोंमें इस प्रथम समवसरणमें तीर्थोत्पत्तिके न होनेकी घटना-को आश्चर्यजनक घटना बतलाया है और उसे आमतौर पर 'अछेरा' (असा-धारण घटना) कहा जाता है ।

अब देखना यह है कि, दूसरा समवसरण कब और कहाँपर हुआ ? और प्रथम समवसरणमें भगवानका शासनतीर्थ प्रवर्तित न होनेका क्या कारण था ? इस विषयमें अभी तक जितना श्वेताम्बर-साहित्य देखनेको मिला है उससे इतना ही मालूम होता है कि प्रथम समवसरणमें देवता ही देवता उपस्थित थे—कोई मनुष्य नहीं था, इससे धर्मतीर्थका प्रवर्तन नहीं हो सका। महावीरको केवल-ज्ञानकी प्राप्ति दिनके चौथे पहरमें हुई थी, उन्होंने जबयह देखा कि उस समय मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी) में सोमिलार्य ब्राह्मणके यहाँ यज्ञ-विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशान्तरोंके बड़े-बड़े विद्वान् आमन्त्रित होकर आए हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्वलाभका कारण जान पड़ा और उन्होंने यह सोचकर कि यज्ञमें आए हुए विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध-को प्राप्त होंगे और मेरे धर्मतीर्थ केआधारस्तम्भ बनेंगे,संध्या-समय ही विहार कर दिया और वे रातोंरात १२ योजन (४८ कोस) चल कर मध्यमाके महासेन-नामक उद्यानमें पहुँचे, जहाँ प्रातःकालसे ही समवसरणकी रचना होगई। इस तरह बैसाख सुदि एकादशीको जो दूसरा समवरण रचा गया उसमें वीरभग-वानने एक पहर तक विना किसी गणधरकी उपस्थितिके ही धर्मोपदेश दिया। इस धर्मोपदेश और महावीरकी सर्वज्ञताकी खबर पाकर इन्द्रभूति आदि ११ प्रधान ब्राह्मण विद्वान् अपने अपने शिष्यसमूहोंके साथ कुछ आगे पीछे समव-सरणमें पहुँचे और वहाँ वीरभगवानसे साक्षात् वार्तालाप करके अपनी अपनी शंकाओंकी निवृत्ति होनेपर उनके शिष्य बन गये, उन्हें ही फिर वीरप्रभु-द्वारा

गणधर-पदपर नियुक्त किया गया*। साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि मध्यमा-के इस द्वितीय समवसरणके बाद, जिसमें धर्मचक्रवर्तित्व प्राप्त हुआ बतलाया गया है†, भ० महावीरने राजगृहकी ओर जो राजा श्रेणिककी राजधानी थी प्रस्थान किया, जहाँ पहुँचते ही उनका तृतीय समवसरण रचा गया और उन्होंने सारा वर्षा काल वहीं बिताया, जिससे श्रावणादि वर्षाके चातुर्मास्यमें वहां बराबर धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती रही ‡।

परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि प्रथम समवसरणमें मनुष्योंका अभाव क्यों रहा—वे क्यों नहीं पहुँच सके ? समवसरणकी इतनी विशाल योजना होने, हजारों देवी-देवताओंके वहाँ आकर जय जयकार करने, देवदुंदुभि बाजोंके बजने और अनेक दूसरे आश्चर्योंके होनेपर भी, जिनसे दूर दूरकी जनता ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी तक भी खिंचकर चले आते हैं, जृम्भकादि आस-पासके ग्रामोंके मनुष्यों तक को भी समवसरणमें जानेकी प्रेरणा न मिली हो, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। दूसरे, केवलज्ञान जब दिनके चौथे पहरमें उत्पन्न हुआ था तब उस केवलोत्पत्तिकी खबर को पाकर अनेक समूहोंमें देवताओंके ऋजु-कूला नदीके तट पर वीरभगवानके पास आने, आकर उनकी वन्दना तथा स्तुति करने—महिमा गाने, समवसरणमें नियत समय तक उपदेशके होने तथा उसे सुनने आदिके सब नेग-नियोग इतने थोड़े समयमें कैसे पूरे हो गये कि भ० महावीरको संध्याके समय ही विहारका अवसर मिल गया ? × तीसरे, यह भी मालूम नहीं हो सका कि केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले जब भ० महावीर

---

* देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ४८ से ७३।

† अमर-णररायमहिओ पत्तो धम्मवरचक्कवट्टित्तं।
बीयम्मि समवसरणे पावाए मज्झिमाए उ॥

—आव० नि० ४५० पृ० २२९

‡ देखो, उक्त 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ७४ से ७८।

× स्थानकवासी श्वेताम्बरोंमें केवलज्ञानका होना १० मीकी रात्रिको माना गया है (भ० महावीरका आदर्श जीवन पृ० ३३२) अतः उनके कथनानुसार भी उस दिन संध्या-समय विहारका कोई अवसर नहीं था।

मोहनीय और अन्तराय कर्मका बिल्कुल नाश कर चुके थे—फलतः उनके कोई प्रकारकी इच्छा नहीं थी—तब वे शासनफलकी एषणासे इतने आतुर कैसे हो उठे कि उस यज्ञ-प्रसंगसे अपूर्व लाभ उठानेकी बात सोचकर संध्यासमय ही ऋजुकूला-तटसे चल दिये और रातोंरात ४८ कोस चलकर मध्यमा नगरीके उद्यानमें जा पहुँचे ? और इसलिये प्रथम समवसरणमें केवल देवताओंके ही उपस्थित होने, संध्या समयके पूर्व तक सब नेग-नियोगोंके पूरा हो जाने और फिर अपूर्वलाभकी इच्छासे भ० महावीरके संध्या समय ही प्रस्थान करके रातों-रात मध्यमा नगरीके उद्यानमें पहुँचने आदिकी बात कुछ जीको लगती हुई मालूम नहीं होती ।

प्रत्युत इसके, दिगम्बर साहित्य परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ऋजुकूला तटवाले प्रथम समवसरणमें वीर भगवानकी वाणी ही नहीं खिरी—उनका उपदेश ही नहीं हो सका—और उसका कारण मनुष्योंकी उपस्थितिका अभाव नहीं था किन्तु उस गणीन्द्रका अभाव था जो भगवानके मुखसे निकले हुए बीजपदोंकी अपने ऋद्धिबलसे ठीक व्याख्या कर सके अथवा उनके आशयको लेकर वीर-प्ररूपित अर्थको ठीक रूपमें जनताको समझा सके और या यों कहिये कि जनताके लिये उपयोगी ऐसे द्वादशाङ्ग श्रुतरूपमें वीरवाणीको गूँथ सके*। ऐसे गणीन्द्रका उस समय तक योग नहीं भिड़ा था, और इसलिये वीरजिनेन्द्रने फिरसे मौन-पूर्वक विहार किया, जो ६६ दिन तक जारी रहा और जिसकी समाप्तिके साथ साथ वे राजगृह पहुँच गये, जहाँ विपुलाचल पर्वत पर उनका वह समवसरण रचा गया जिसमें इन्द्रभूति (गोतम) आदि विद्वानोंकी दीक्षाके अनन्तर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित नक्षत्रमें वीर भगवानकी सर्वप्रथम दिव्यवाणी खिरी और उनके शासन-तीर्थकी उत्पत्ति हुई । जैसाकि श्री जिन-सेनाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

> षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः ।
> आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरं ॥ ६१ ॥

---

*"बीजपदणिलीणत्थपरूवणं दुवालसंगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथ-कत्तारओ त्ति अब्भुपगमादो । बीजपदाणं वक्खाणओ त्ति वुत्तं होदि ।"
—धवल, वेयणाखंड

आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियं ।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥ ६२ ॥
ततः प्रबुद्धवृत्तान्तैरापतद्भिरितस्ततः ।
जगत्सुरासुरैर्व्याप्तं जिनेन्द्रस्य गुणैरिव ॥ ६३ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

इन्द्राऽग्निवायुभूत्याख्या कौण्डिन्याख्याश्च पण्डिताः ।
इन्द्रनोदयनाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः ॥ ६८ ॥
प्रत्येकं संहिताः सर्वे शिष्याणां पंचभिः शतैः ।
त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धा संयमं प्रतिपेदिरे ॥ ६६ ॥
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयं ।
जिनेन्द्रं गोतमोपृच्छत्तीर्थार्थं पापनाशनम् ॥ ८६ ॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः ।
दुंदुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना ॥ ६० ॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः ।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥ ६१ ॥

—हरिवंशपुराण, द्वि० सर्ग

इस विषयमें धवल और जयधवल नामके सिद्धान्तग्रन्थोंमें, श्रीवर्द्धमान महावीरके अर्थकर्तृत्वकी—तीर्थोत्पादनकी—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूपसे प्ररूपणा करते हुए, प्राचीन गाथाओंके आधारपर जो विशद कथन किया गया है वह अपना खास महत्व रखता है । द्रव्यप्ररूपणामें तीर्थोत्पत्तिके समय महावीरके शरीरका **'केरिसं महावीरसरीरं'** इत्यादिरूपसे वर्णन करते हुए उसे समचतुःसंस्थानादि-गुणोंसे विशिष्ट सकल दोषोंसे रहित और राग-द्वेष-मोहके अभावका सूचक बतलाया है । क्षेत्रप्ररूपणामें **'तित्थुप्पत्ती कम्हि खेत्ते'** इत्यादिरूपसे तीर्थोत्पत्तिके क्षेत्रका निरूपण और उसमें समवसरण तथा उसके स्थानादिका निर्देश करते हुए जो विस्तृत वर्णन दिया है उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"..........गयणट्ठियछत्तत्तयेण वड्ढमाण-तिहुवणाहिवइत्तचिंधएण सुसोहियए पंचसेलउर-णेरइदिसा-विसय-अइविउल-विउलगिरिमत्थयत्थए गंगोहोव्व चउहि सुरविरइयचारे हियविसमाणदेवविज्जाहरमणु-

वजणाण मोहए समवसरणमंडले × × × × होदु णामदिट्ठ जिण-दव्वमहिमाणं देविंदसरूवावगच्छंत जीवाणमिदं जिणसव्वण्णुत्तलिगं चामरछत्तणद्धदि-साविसयम्मि दिव्वामोयगंधसुरसाराणेयमणिणिवह-फुडियम्मि गंधउडिप्पासायम्मि ट्ठियसिंहासणारूढेण वड्ढमाणभडारएण तित्थुप्पाइदं । खेत्तप्परूवणा ।''

इसमें अनेक विशेषणोंके साथ यह स्पष्ट बतलाया है कि, 'पंचशैलपुर ('राज-गृह' नगर) की नैऋति दिशामें जो विपुलाचल पर्वत है उसके मस्तकपर होने-वाले तत्कालीन समवसरण-मंडलकी गंधकुटीमें गगन-स्थित छत्रत्रयसे युक्त एवं सिंहासनारूढ हुए वर्द्धमान भट्टारक (भ० महावीर) ने तीर्थकी उत्पत्तिकी—अपना शासनचक्र प्रवर्तित किया ।'

जयधवल ग्रन्थमें इतना विशेष और भी पाया जाता है कि पंचशैलपुरको, जो कि गुणनाम था, 'राजगृह' नगरके नामसे भी उल्लेखित किया है, उसे मगधमंडलका तिलक बतलाया है और तीर्थोत्पत्तिके समय चेलना-सहित महामंड-लीकराजा श्रेणिकसे उपभुक्त—उनके द्वारा शासित—प्रकट किया है । यथा:—

''कत्थ कहियं ? सेणियराये सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजंते मगह-मंडलतिलअ-रायगिहणयर-णेरयि—दीसमहिट्ठिय-विउलगि-रिपव्वए सिद्धचारणसेविए वारहगणवेट्ठिएण कहियं ।''

इसके बाद 'उक्तंच' रूपसे जो गाथाएँ दी हैं और जो धवल ग्रन्थमें भी अन्यत्र पाई जाती हैं उनमेंसे शुरूकी डेढ़ गाथा, जिसके अनन्तरकी दो गाथाएँ पंचपर्वतोंके नाम, आकार और दिशादिके निर्देशको लिए हुए हैं, इस प्रकार हैं—

''पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणादुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे ॥१॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोअस्स ।''

क्षेत्रप्ररूपणा-सम्बन्धी इस कथनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि महा-वीरके शासन-तीर्थकी उत्पत्ति राजगृहकी नैऋति दिशामें स्थित विपुलाचल पर्वतपर हुई है, जो उस समय राजा श्रेणिकके राज्यमें था ।

अब काल-प्ररूपणाको लीजिये, इस प्ररूपणामें निम्न तीन गाथाओंको एक साथ देकर धवल-सिद्धान्तमें बतलाया है कि—'इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी-

कल्प-सम्बन्धी चतुर्थ कालके पिछले भागमें जब कुछ कम चौंतीस वर्ष अवशिष्ट रहे थे तब वर्षके प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिनमें श्रावणकृष्णप्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित् नक्षत्रमें भगवान महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति हुई थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको रुद्र-मुहूर्तमें सूर्योदयके समय अभिजित् नक्षत्रका प्रथम योग होनेपर जहाँ युगकी आदि कही गई है उसी समय इस तीर्थोत्पत्तिको जानना चाहिये :—

"इमिस्सेऽवसप्पणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचिवि सेसूणए संते ॥१॥

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुपपत्ती दु अभिजिम्मि ॥२॥

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥"

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको तीर्थोत्पत्ति होनेका यह स्पष्ट अर्थ है कि वैशाख सुदि १०मीको केवलज्ञान हो जानेपर भी आषाढ़ी पूर्णिमा तक अर्थात् ६६ दिन तक भगवान महावीरकी दिव्यध्वनि—वाणी नहीं खिरी और इसीसे उनके प्रवचन (शासन) तीर्थकी उत्पत्ति पहले नहीं हो सकी—इन ६६ दिनोंमें वे श्री जिनसेनाचार्यके कथनानुसार मौनसे विहार करते रहे हैं। ६६ दिन तक दिव्यध्वनिके प्रवृत्त न होनेका कारण बतलाते हुए धवल और जयधवल दोनों ग्रन्थोंमें एक रोचक शंका-समाधान दिया गया है, जो इस प्रकार है—

"छासठदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं कीरदे? केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुववत्तीदो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थाऽपउत्ती? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो? काललद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे? साहावियादो, ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो अव्ववत्थापत्तीदो।"

शंका—केवल-कालमेंसे ६६ दिनोंका घटाना किस लिये किया जाता है?

समाधान—इसलिये कि, केवलज्ञानके समुत्पन्न होनेपर भी उस समय तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—दिव्यध्वनिकी उस समय प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान—गणीन्द्रका अभाव होनेसे नहीं हुई।

शंका—सौधर्म इन्द्रने उसी समय गणीन्द्रकी खोज क्यों नहीं की ?

समाधान—काललब्धिके बिना देवेन्द्र असहाय था और उसमें उस खोजकी शक्तिका अभाव था।

शंका—अपने पादमूलमें जिसने महाव्रत ग्रहण किया है उसे छोड़कर अन्यको उद्देश्य करके दिव्यध्वनि क्यों प्रवृत्त नहीं होती ?

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है, और स्वभाव पर-पर्यनुयोगके योग्य नहीं होता, अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं रहेगी।

इस शंका-समाधानसे दिगम्बर-मान्यतानुसार केवलज्ञानकी उत्पत्तिके दिन वीरभगवानकी देशनाके न होने और ६६ दिन तक उसके बन्द रहनेके कारणका भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है।

श्रीयतिवृषभाचार्यके 'तिलोयपण्णत्ती' नामक ग्रन्थसे भी, जिसकी रचना देवर्द्धिगणके श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों और आवश्यक निर्युक्ति आदिसे पहले हुई है, यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीर भगवानके शासनतीर्थकी उत्पत्ति पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वतपर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको हुई है; जैसा कि नीचेके कुछ वाक्योंसे प्रकट है—

सुर-खेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अत्थकत्तारो ॥६५॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६६॥

ऐसी स्थितिमें श्वेताम्बरोंकी मान्यताका उक्त द्वितीय-तृतीय समवसरण जैसा थोड़ा सा मतभेद राजगृहमें आगामी श्रावण कृष्णा प्रतिपदादिको होनेवाले वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवमें उनके सहयोग देने और सम्मिलित होनेके लिये कोई बाधक नहीं हो सकता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि वे जान रहे हैं कि जिस श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको दिगम्बरआगम राजगृहमें वीरभगवानके समवसरण-

का होना बतला रहे हैं उसी श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको श्वेताम्बर आगम भी वहां वीरप्रभुके समवसरणका अस्तित्व स्वीकार कर रहे हैं, इतना ही नहीं किन्तु वहां केवलोत्पत्तिके अनन्तर होनेवाले उस सारे चातुर्मास्यमें समवसरणका रहना प्रकट कर रहे हैं। इसके अलावा यह भी मान रहे हैं कि 'राजगृह नगर महावीरके उपदेश और वर्षावासके केन्द्रोंमें सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था और उसमें दोसौसे अधिकवार समवसरण होनेके उल्लेख जैनसूत्रोंमें पाये जाते हैं ॐ।

आशा है शासन-प्रभावनाके इस सत्कार्यमें दिगम्बरोंको अपने श्वेताम्बर और स्थानकवासी भाइयोंका अनेक प्रकारसे सद्भावपूर्वक सहयोग प्राप्त होगा। इसी आशाको लेकर आगामी वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवकी योजनाके प्रस्तावमें उक्त दोनों सम्प्रदायोंके प्रमुख व्यक्तियोंके नाम भी साथमें रक्खे गये हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि वीर-शासनको प्रवर्तित हुए गत श्रावण-कृष्णा-प्रतिपदाको २४९९ वर्ष हो चुके हैं और अब यह २५००वाँ वर्ष चल रहा है, जो आषाढ़ी पूर्णिमाको पूरा होगा। इसीसे वीरशासनका अर्द्ध-द्वयसहस्राब्दि-महोत्सव उस राजगृहमें ही मनानेकी योजना की गई है जो वीर-शासनके प्रवर्तित होनेका आद्यस्थान अथवा मुख्यस्थान है। अतः इसके लिये सभीका सहयोग वाँछनीय है—सभीको मिलकर उत्सवको हर प्रकारसे सफल बनाना चाहिये।

इस अवसरपर वीरशासनके प्रेमियोंका यह खास कर्तव्य है कि वे शासनकी महत्ताका विचारकर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करें और लोकमें वीरशासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करें अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें मतभेदकी साधारण बातोंपर न जाकर अपना सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करनेमें कोई बात उठा न रक्खें, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि हो सके।

ॐ देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ३८४-३८५

४

जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद

जैनसमाजमें, श्रीवट्टकेराचार्यका बनाया हुआ 'मूलाचार' नामका एक यत्याचार-विषयक प्राचीन ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। मूलग्रन्थ प्राकृत भाषामें है, और उस पर वसुनन्दी सैद्धान्तिककी बनाई हुई 'आचारवृत्ति' नामकी एक संस्कृत टीका भी पाई जाती है। इस ग्रन्थमें, सामायिकका वर्णन करते हुए, ग्रन्थकर्ता-महोदय लिखते हैं:—

> बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
> छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७–३२ ॥

अर्थात्—अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।

यहाँ मूल गाथामें दो जगह 'च' (य) शब्द आया है। एक चकारसे परिहार-विशुद्धि आदि चारित्रका भी ग्रहण किया जा सकता है। और तब यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव और महावीर भगवानने सामायिकादि पाँच प्रकारसे चारित्रका प्रतिपादन किया है, जिसमें छेदोपस्थापनाकी यहां प्रधानता है। शेष बाईस तीर्थंकरोंने केवल सामायिक चारित्रका या छेदोपस्थापनाको छोड़कर शेष सामायिकादि चार प्रकारके चारित्रका प्रतिपादन किया है। अस्तु।

आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंने छेदोपस्थापन संयमका प्रतिपादन क्यों किया है? इसका उत्तर आचार्यमहोदय आगेकी दो गाथाओंमें इस प्रकार देते हैं:—

आचक्खिदु विभजिदु विण्णादु चावि सुहदरं होदि ।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपालेया ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥

टीका—"....* यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छानुष्ठातुं विभक्तुं विज्ञातुं चापि भवमि सुखतरं सामायिकं तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥३३॥" "आदितीर्थे शिष्या दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यतः । तथा च पश्चिमतीर्थे शिष्या दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः । पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्पं योग्यं अकल्पं अयोग्यं न जानन्ति यतस्तत आदौ निधने च छेदोपस्थापनमुपदिशत इति ॥ ३४ ॥"

अर्थात्—पाँच महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस वजहसे किया गया है कि इनके द्वारा सामायिकका दूसरोंको उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना, पृथक् पृथक् रूपसे भावनामें लाना और सविशेषरूपसे समझना सुगम हो जाता है। आदिम तीर्थमें शिष्य मुश्किलसे शुद्ध किये जाते हैं; क्योंकि वे अतिशय सरलस्वभाव होते हैं । और अन्तिम तीर्थमें शिष्यजन कठिनतासे निर्वाह करते हैं; क्योंकि वे अतिशय वक्रस्वभाव होते हैं। साथ ही, इन दोनों समयोंके शिष्य स्पष्टरूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते हैं। इसलिये आदि और अन्तके तीर्थमें इस छेदोपस्थापनाके उपदेशकी ज़रूरत पैदा हुई है।

यहांपर यह भी प्रकट कर देना ज़रूरी है कि छेदोपस्थापनामें हिंसादिकके भेदसे समस्त सावद्यकर्मका त्याग किया जाता है †। इसलिये छेदोपस्थापनाकी

---

* इससे पहले, टीकामें, गाथाका शब्दार्थ मात्र दिया है।

† 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भट्टाकलंकदेवने भी छेदोपस्थापनाका ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादन किया है। यथा:—

"सावद्य कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थापना ।"

इसी ग्रन्थमें अकलंकदेवने यह भी लिखा है कि सामायिककी अपेक्षा व्रत एक है और छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा उसके पाँच भेद हैं। यथा:—

'पंचमहाव्रत' संज्ञा भी है, और इसी लिये आचार्यमहोदयने गाथा नं० ३३ में छेदोपस्थापनाका 'पंचमहाव्रत' शब्दोंसे निर्देश किया है। अस्तु। इसी ग्रन्थमें, आगे 'प्रतिक्रमण' का वर्णन करते हुए, श्रीवट्टकेरस्वामीने यह भी लिखा है:—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स।
अवराहपडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ७-१२५ ॥
जावे दु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावे दु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १२६ ॥
इरियागोयरसुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिमचरिमा दु सव्वे सव्वे णियमा पडिक्कमदि ॥ १२७ ॥

अर्थात्—पहले और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म, अपराधके होने और न होनेकी अपेक्षा न करके, प्रतिक्रमण-सहित प्रवर्तता है। पर मध्यके बाईस तीर्थंकरोंका धर्म अपराधके होने पर ही प्रतिक्रमणका विधान करता है। क्योंकि उनके समय-अपराधकी बहुलता नहीं होती। मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके समयमें जिस व्रतमें अपने

"सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम्।"

श्रीपूज्यपादाचार्यने भी 'सर्वार्थसिद्धि' में ऐसा ही कहा है। इसके सिवाय, श्रीवीरनन्दी आचार्यने, 'आचारसार' ग्रन्थके पांचवें अधिकारमें, छेदोपस्थापनाका जो निम्न स्वरूप वर्णन किया है उससे इस विषयका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा:—

व्रत-समिति-गुप्तिगैः पंच पंच त्रिभिर्मतैः।
छेदैर्भेदैरुपेत्यार्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया ॥ ६ ॥
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मसंगेष्वसंगमः ॥ ७ ॥

अर्थात्—पांच व्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति नामके छेदों-भेदोंके द्वारा अर्थको प्राप्त होकर जो अपने आत्मामें स्थिर होने रूप क्रिया है उसको छेदोपस्थापना या छेदोपस्थापन कहते हैं। समस्त सावद्यके त्यागमें छेदोपस्थापनाको हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन (अब्रह्म) और परिग्रहसे विरतिरूप व्रत कहा है।

या दूसरोंके अतीचार लगता है उसी व्रतसम्बन्धी अतीचारके विषयमें प्रतिक्रमण किया जाता है। विपरीत इसके, आदि और अन्तके तीर्थंकरों (ऋषभदेव और महावीर) के शिष्य ईर्या, गोचरी और स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए समस्त अतिचारों-का आचरण करो अथवा मत करो उन्हें समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है। आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्योंको क्यों समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है और क्यों मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य वैसा आचरण नहीं करते ? इसके उत्तरमें आचार्यमहोदय लिखते हैं:—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तम्हा हु जमाचरंति तं गरहंता विसुज्झंति ॥ १२८ ॥
पुरिम-चरमा दु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडयदिट्ठंतो ॥ १२९ ॥

अर्थात्—मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य विस्मरणशीलतारहित दृढबुद्धि, स्थिर-चित्त और मूढतारहित परीक्षापूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं। इसलिये प्रकटरूपसे वे जिस दोषका आचरण करते हैं उस दोषके विषयमें आत्मनिन्दा करते हुए शुद्ध हो जाते हैं। पर आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्य चलचित्त, विस्मरण शील और मूढमना होते हैं—शास्त्रका बहुत बार प्रतिपादन करनेपर भी उसे नहीं जान पाते। उन्हें क्रमशः ऋजुजड और वक्रजड समझना चाहिये—इसलिये उनके समस्त प्रतिक्रमणदण्डकोंके उच्चारणका विधान किया गया है और इस विषयमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त बतलाया गया है। टीकाकारने इस दृष्टान्तका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

'किसी राजाका घोड़ा अन्धा हो गया। उक्त राजाने वैद्यपुत्रसे घोड़ेके लिये औषधि पूछी। वह वैद्यपुत्र वैद्यक नहीं जानता था, और वैद्य किसी दूसरे ग्राम गया हुआ था। अतः उस वैद्यपुत्रने घोड़ेकी आँखको आराम पहुँचानेवाली समस्त औषधियोंका प्रयोग किया और उनसे वह घोड़ा नीरोग हो गया। इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमणदण्डकमें स्थिरचित्त नहीं होता हो तो दूसरेमें होगा, दूसरेमें नहीं तो तीसरेमें, तीसरेमें नहीं तो चौथेमें होगा. इस प्रकार सर्वप्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना न्याय है। इसमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सब ही प्रतिक्रमण-दण्डक कर्मके क्षय करनेमें समर्थ हैं।

मूलाचारके इस सम्पूर्ण कथनसे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि **समस्त जैनतीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोकस्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ परिवर्तन जरूर होता रहा है।** और इसलिये जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैनतीर्थंकरोंके उपदेशमें परस्पर रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरती है वही जँची तुली दूसरे तीर्थंकर-के मुँहसे निकलती है, उसमें ज़रा भी फेरफार नहीं होता—वह खयाल निर्मूल जान पड़ता है। शायद ऐसे लोगोंने तीर्थंकरोंकी वाणीको फोनोग्राफके रिकार्डोंमें भरे हुए मैटर (मज़मून) के सदृश समझ रक्खा है! परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ऐसे लोगोंको मूलाचारके उपर्युक्त कथनपर खूब ध्यान देना चाहिये।

पं० **आशाधरजी**ने भी, अपने 'अनगारधर्मामृत' ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें, तीर्थंकरोंके इस शासनभेदका उल्लेख किया है। जैसा कि आपके निम्न-वाक्योंसे प्रकट है:—

"आदिमान्तिमतीर्थंकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशतः स्म नाऽजिता-दयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटुशिष्याः॥९-८७॥

टीका—**अदिशदु**पदिष्टवान्। कोऽसौ? **वीरो**ऽन्तिमतीर्थंकरः। किं तत्? **साम्यं** सामायिकाख्यं चारित्रम् कया? **व्रतादिभिदा** व्रतसमितिगुप्तिभेदेन। कुतो हेतोः? **इति**। किमिति? भवति। किं तत्? **साम्यम्**। कीदृशम्? **दुष्पालं** पालयितुमशक्यम्। कैः? **वक्रजडै**रनार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। क इव? **पुरुरिव**। इव शब्दो यथाऽर्थः। यथा पुरुरादिनाथः साम्यं व्रतादिभिदाऽदि-शत्। कुतो हेतोः? इति। किमिति? भवति। किं तत्? **साम्यं**। कीदृशम्? ***दुःशोधं*** *शोधयितुमशक्यम्*। कैः **ऋजुजडै**रार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। तथा-**ऽपरे**ऽजितादयो द्वाविंशतिस्तीर्थंकरा व्रतादिभिदा साम्यं नादिशन्। साम्यमेव व्रत-मिति कथयन्ति स्म स्वशिष्याणामग्रे। कीदृशास्ते? **सुपटुशिष्याः** यतः ऋजुवक्र-जडत्वाभावात् सुष्ठु पटवो व्युत्पन्नतमाः शिष्या येषां त एवम्।"

× × × ×

निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान् नियमान् समान् ॥८-६२॥

टीका—पठेदुच्चरेत् साधुः शृणुयाद्वा आचार्यादिभ्य आकर्णयेत्। कान् ? नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान्। किंविशिष्टान् ? समान् सर्वान्। ....इदमत्र तात्पर्यं, यस्मादैदंयुगीना दुःखमाकालानुभावाद्वक्रजडीभूताः स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति चलचित्तत्वाच्चासकृत्प्रायशोपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सर्वे प्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः। तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्यते। ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः। तथा चोक्तम्—

* सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां न वा।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वं प्रतिक्रामन्ति निश्चितम् ॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद्गर्हमाणाः सृजन्ति तम् ॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम् ॥"

और श्रीपूज्यपादाचार्यने, अपनी 'चारित्रभक्ति' में, इस विषयका एक पद्य निम्नप्रकारसे दिया है:—

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।

---

* ये पांचों पद्य, जिन्हें पं० आशाधरजीने अपने कथनके समर्थनमें उद्धृत किया है, विक्रमकी प्रायः १३वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी प्राचीन ग्रन्थके पद्य हैं। इनका सब आशय क्रमशः वही है जो मूलाचारकी उक्त गाथा नं० १२५ से १२९ का है। इन्हें उक्त गाथाओंकी छाया न कहकर उनका पद्यानुवाद कहना चाहिये।

चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान्नमामो वयम् ॥७॥

इसमें कायादि तीन गुप्तियों, ईर्यादि पंच समितियों और अहिंसादि पंच महाव्रतोंके रूपमें त्रयोदश प्रकारके चारित्रको 'चारित्राचार' प्रतिपादन करते हुए उसे नमस्कार किया है और साथ ही यह बतलाया है कि **'यह तेरह प्रकारका चारित्र महावीर जिनेन्द्रसे पहलेके दूसरे तीर्थंकरों-द्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ है'** —अर्थात्, इस चारित्रका उपदेश महावीर भगवान्ने दिया है, और इसलिये यह उन्हींका खास शासन है। यहाँ **'वीरात् पूर्वं न दिष्टं परैः'** शब्दों परसे, यद्यपि, यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि महावीर भगवान्से पहलेके किसी भी तीर्थंकरने—ऋषभदेवने भी—इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है, परन्तु टीकाकार **प्रभाचन्द्राचार्यने 'परैः'** पदके वाच्यको भगवान् **'अजित'** तक ही सीमित किया है—**ऋषभदेव** तक नहीं अर्थात्, यह सुझाया है कि—पार्श्वनाथसे लेकर अजितनाथपर्यंत पहलेके बाईस तीर्थंकरोंने इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है—उनके उपदेशका विषय एक प्रकारका चारित्र (सामायिक) ही रहा है—यह तेरह प्रकारका चारित्र श्रीवर्धमान महावीर और आदिनाथ (ऋषभदेव) के द्वारा उपदेशित हुआ है। जैसा कि आपकी टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"..........**परैः** अन्यतीर्थंकरैः। कस्मात्परैः? **वीरादन्यतीर्थंकरात्**। किंविशिष्टात्? **जिनपतेः**......। परैरजितादिभिर्जिननाथैस्त्रयोदशभेदभिन्नं चारित्रं न कथितं सर्वसावद्यविरतिलक्षणमेकं चारित्रं तैर्विनिर्दिष्टं तत्कालीनशिष्याणां ऋजुवक्रजडमतित्वाभावात्। वर्धमानस्वामिना तु वक्रजडमतिभव्याशयवशात् आदिदेवेन तु ऋजुजडमतिविनेयवशात् त्रयोदशविधं निर्दिष्टं आचारं नमामो वयम्।"

संभव है कि **'परैः'** पदकी इस सीमाके निर्धारित करनेका उद्देश्य मूलाचारके साथ पूज्यपादके इस कथनकी संगतिको ठीक बिठलाना रहा हो। परन्तु वास्तवमें यदि इस सीमाको न भी निर्धारित किया जाय और यह मान लिया जाय कि ऋषभदेवने भी इस त्रयोदशविधरूपसे चारित्रका उपदेश नहीं दिया है तो भी उसका मूलाचारके साथ कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि यह हो सकता है कि ऋषभदेवने पंचमहाव्रतोंका तो उपदेश दिया हो—उनका छेदोप-

स्थापना संयम अहिंसादि पंचभेदात्मक ही हो—किन्तु पंचसमितियों और तीन गुप्तियोंका उपदेश न दिया हो, और उनके उपदेशकी जरूरत भगवान् महावीर-को ही पड़ी हो। और इसी लिये उनका छेदोपस्थापन संयम इस तेरह प्रकारके चारित्रभेदको लिये हुए हो, जिसकी उनके नामके साथ खास प्रसिद्धि पाई जाती है। परन्तु कुछ भी हो, ऋषभदेवने भी इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश दिया हो या न दिया हो, किन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि शेष बाईस तीर्थंकरोंने उसका उपदेश नहीं दिया है।

यहाँपर इतना और भी बतला देना जरूरी है कि भगवान् महावीरने इस तेरह प्रकारके चारित्रमेंसे दस प्रकारके चारित्रको—पंचमहाव्रतों और पंचसमितियोंको—मूलगुणोंमें स्थान दिया है। अर्थात्, साधुओंके अट्ठाईस* मूलगुणोंमें दस मूलगुण इन्हें करार दिया है। तब यह स्पष्ट है कि श्रीपार्श्वनाथादि दूसरे तीर्थंकरोंके मूलगुण भगवान् महावीरद्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंसे भिन्न थे और उनकी संख्या भी अट्ठाईस नहीं हो सकती—दसकी संख्या तो एकदम कम हो ही जाती है; और भी कितने ही मूलगुण इनमें ऐसे हैं जो उस समयके शिष्योंकी उक्त स्थितिको देखते हुए अनावश्यक प्रतीत होते हैं। वास्तवमें मूलगुणों और उत्तरगुणोंका सारा विधान समय-समयके शिष्योंकी योग्यता और उन्हें तत्तत्कलीन परिस्थितियोंमें सन्मार्ग-पर स्थिर रख सकनेकी आवश्यकतापर अवलम्बित रहता है। इस दृष्टिसे जिस समय जिन व्रतनियमादिकोंका आचरण सर्वोपरि मुख्य तथा आव-श्यक जान पड़ता है उन्हें मूलगुण करार दिया जाता है और शेषको उत्तर-

---

* अट्ठाईस मूलगुणोंके नाम इसप्रकार हैं:—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह (ये पांच महाव्रत); ६ ईर्या, ७ भाषा, ८ एषणा, ९ आदाननिक्षेपण, १० प्रतिष्ठापन, (ये पांच समिति); ११–१५ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-निरोध (ये पंचेंद्रियनिरोध); १६ सामायिक, १७ स्तव, १८ वन्दना, १९ प्रतिक्रमण, २० प्रत्याख्यान, २१ कायोत्सर्ग (ये षडावश्यक क्रिया); २२ लोच, २३ आचेलक्य, २४ अस्नान, २५ भूशयन, २६ अदन्तघर्षण, २७ स्थितिभोजन, और २८ एकभक्त।

गुण। इसीसे सर्व समयोंके मूलगुण कभी एक प्रकारके नहीं हो सकते। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं अथवा थोड़ेमें ही समझ लेते हैं और किसी समयके विस्ताररुचिवाले अथवा विशेष खुलासा करनेपर समझनेवाले। कभी लोगोंमें ऋजुजडताका अधिक संचार होता है, कभी वक्रजडताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है। किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल। कभी लोकमें मूढता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है। इसलिये **जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रों-की—बहुलता होती है उस उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रत-नियमादिकका विधान** होता है। उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है। परन्तु इस भिन्न प्रकारके उपदेश, विधान या शासनमें परस्पर उद्देश्य-भेद नहीं होता। समस्त जैन तीर्थंकरोंका वही मुख्यतया एक उद्देश्य 'आत्मासे **कर्ममल-को दूर करके उसे शुद्ध, सुखी, निर्दोष और स्वाधीन बनाना**' होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि संसारी जीवोंको संसार-रोग दूर करनेके मार्गपर लगाना ही जैनतीर्थंकरोंके जीवनका प्रधान लक्ष्य होता है। अस्तु। एक रोगको दूर करनेके लिये जिस प्रकार अनेक औषधियाँ होती हैं और वे अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लाई जाती हैं; रोग शान्तिके लिये उनमेंसे जिस वक्त जिस औषधिको जिस विधिसे देनेकी जरूरत होती है वह उस वक्त उसी विधिसे दी जाती है—इसमें न कुछ विरोध होता है और न कुछ बाधा आती है। उसी प्रकार संसार-रोग या कर्म-रोगको दूर करनेके भी अनेक साधन और उपाय होते हैं, जिनका अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। उनमेंसे तीर्थंकर भगवान् अपनी अपनी समयकी स्थितिके अनुसार जिस जिस उपायका जिस जिस रीतिसे प्रयोग करना उचित समझते हैं उसका उसी रीतिसे प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रयोगमें किसी प्रकारका विरोध या बाधा उपस्थित होनेकी संभावना नहीं हो सकती। इन्हीं सब बातोंपर मूलाचारके विद्वान् आचार्यमहोदयने, अपने ऊपर उल्लेख किये हुए वाक्यों-द्वारा अच्छा प्रकाश डाला है और अनेक युक्तियोंसे जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदको भले प्रकार प्रदर्शित और सूचित किया है। इसके सिवाय, दूसरे

विद्वानोंने भी इस शासनभेदको माना तथा उसका समर्थन किया है, यह और भी विशेषता है।

श्वेताम्बर-मान्यता

श्वेताम्बरोंके यहां भी जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदका कितना ही उल्लेख मिलता है, जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(१) 'आवश्यकनिर्युक्ति' में, जो भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी रचना कही जाती है, दो गाथाएँ निम्नप्रकारसे पाई जाती हैं—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए* पडिक्कमणं ॥१२४४॥
बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति।
छेओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य ॥१२४६॥

ये गाथाएँ साधारणसे पाठभेदके साथ, जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता, वे ही हैं जो 'मूलाचार' के ७वें अध्यायमें क्रमशः नं० १२५ और ३२ पर पाई जाती हैं। और इसलिये, इस विषयमें, निर्युक्तिकार और मूलाचारके कर्ता श्रीवट्टकेराचार्य दोनोंका मत एक जान पड़ता है।

(२) 'उत्तराध्ययनसूत्र' में 'केशि-गौतम-संवाद' नामका एक प्रकरण (२३वाँ अध्ययन) है, जिसमें सबसे पहले पार्श्वनाथके शिष्य (तीर्थशिष्य) केशी स्वामीने महावीर-शिष्य गौतम गणधरसे दोनों तीर्थंकरोंके शासनभेदका कुछ उल्लेख करते हुए उसका कारण दर्याफ्त किया है और यहाँतक पूछा है कि धर्मकी इस द्विविध-प्ररूपणा अथवा मतभेद पर क्या तुम्हें कुछ अविश्वास या संशय नहीं होता है? तब गौतमस्वामीने उसका समाधान किया है। इस संवादके कुछ वाक्य (भावविजयगणीकी व्याख्यासहित) इस प्रकार हैं:—

चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥

व्याख्या—चतुर्यामो हिंसानृतस्तेयपरिग्रहोपरमात्मक-व्रतचतुष्करूपः, पंचशिक्षितः स एव मैथुनविरतिरूपपंचमहाव्रतान्वितः ॥२३॥

* 'कारणजाते' अपराध एवोत्पन्ने सति प्रतिक्रमणं भवति—इति हरिभद्रः।

एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

व्याख्या—'धम्मेति' इत्थं धर्मे साधुधर्मे द्विविधे हे मेधाविन् कथं विप्रत्ययः अविश्वासो न ते तव ? तुल्ये हि सर्वज्ञत्वे किं कृतोऽयं मतभेदः ? इति ॥ २४ ॥ एवं तेनोक्ते—

तओ केसिं बुवंतं तु, गोअमो इणमब्बवी।
पएणा समिक्खए धम्मं-तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥२५॥

व्याख्या—'बुवंतं तु त्ति' ब्रुवन्तमेवाऽनेनादरातिशयमाह, प्रज्ञाबुद्धिः समीक्ष्यते पश्यति, किं तदित्याह—धम्मं-तत्तंति' बिन्दोर्लोपे धर्मतत्त्वं धर्मपरमार्थं, तत्त्वानां जीवादानां विनिश्चयो यस्मात्तत्तथा, अयं भावः—न वाक्यश्रवणमात्रादेवार्थनिर्णयः स्यात्किन्तु प्रज्ञावशादेव ॥२५॥ ततश्च—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपएणा उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

व्याख्या—'पुरिमेति' पूर्वे प्रथमजिनमुनयः ऋजवश्च प्रांजलतया जडाश्च दुष्प्रज्ञाप्यतया ऋजुजडाः, 'तु' इति यस्माद्धेतोः वक्राश्च वक्रप्रकृतित्वाजडाश्च निजानेककुविकल्पैः विवक्षितार्थावगमाक्षमत्वाद्वक्रजडाः, च समुच्चये, पश्चिमाः पश्चिमजिनतनयाः । मध्यमास्तु मध्यमार्हतां साधवः, ऋजवश्च ते प्रज्ञाश्च सुबोधत्वेन ऋजुप्रज्ञाः । तेन हेतुना धर्मो द्विधा कृतः । एककार्यप्रपन्नत्वेपि इति प्रक्रमः ॥२६॥ यदि नाम पूर्वादिमुनीनामीदृशत्वं, तथापि कथमेतद्वैविध्यमित्याह—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

व्याख्या—पूर्वेषां दुःखेन विशोध्यो निर्मलतां नेतुं शक्यो दुर्विशोध्यः, कल्प- इति योज्यते, ते हि ऋजुजडत्वेन गुरुणानुशिष्यमाणा अपि न तद्वाक्यं सम्यगवबोद्धुं प्रभवन्तीति तुः पूर्तौ । चरमाणां दुःखेनानुपाल्यते इति दुरनुपालः स एव दुरनुपालः कल्पः साध्वाचारः । ते हि कथंचिज्जानन्तोऽपि वक्रजडत्वेन न यथावदनुष्ठातुमीशते । मध्यमकानां तु विशोध्यः सुपालकः कल्प इतीहापि योज्यं, ते हि ऋजुप्रज्ञत्वेन सुखेनैव यथावज्जानन्ति पालयन्ति च अतस्ते चतुर्यामोक्तावपि

पंचममपि यामं ज्ञातुं पालयितुं च क्षमाः। यदुक्तं—"नो अपरिग्गहिआए, इत्थीए जेण होइ परिभोगो। ता तव्विरईए च्चिअ, अबंभविरइत्ति पवराणं ॥१॥ इति तदपेक्षया श्रीपार्श्वस्वामिना चतुर्यामो धर्म उक्तः पूर्वपश्चिमास्तु नेदृशा इति श्रीऋषभश्रीवीरस्वामिभ्यां पंचव्रतः। तदेवं विचित्रप्रज्ञविनेयानुग्रहाय धर्मस्य द्वैविध्यं न तु तात्त्विकं। आद्यजिनकथनं चेह प्रसंगादिति सूत्रपंचकार्थः ॥२७॥

इस संवादकी २६वीं और २७वीं गाथामें शासनभेदका जो कारण बतलाया गया है—भेदमें कारणीभूत तत्तत्कालीन शिष्योंकी जिस परिस्थितिविशेषका उल्लेख किया गया है—वह सब वही है जो मूलाचारादि दिगम्बर ग्रन्थोंमें वर्णित है। बाकी, पार्श्वनाथके 'चतुर्याम' धर्मका जो यहाँ उल्लेख किया गया हैं उसका आशय यदि वही है जो टीकाकारने अहिंसादि चार व्रतरूप बतलाया है, तो वह दिगम्बर सम्प्रदायके कथनसे कुछ भिन्न जान पड़ता है। हो सकता है कि पंच प्रकारके चारित्रमेंसे छेदोपस्थापनाको निकाल देनेसे जो शेष चार प्रकारका चारित्र रहता है उसीसे उसका अभिप्राय रहा हो और बादको आगमाविहित चारित्र-भेदोंके स्थानपर व्रत-भेदोंकी कल्पना कर ली गई हो।

(३) 'प्रज्ञापनासूत्र' की मलयगिरि-टीकामें भी तीर्थकरोंके शासन भेदका कुछ उल्लेख मिलता है। यथाः—

"यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशिष्य-माणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति तच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेष्वानारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयं, यावत्क-थिकं च प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्याप्राणोपरमात्, तच्च भरतैरावतभाविमध्य-द्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तरगतानां विदेहतीर्थकरतीर्थान्तरगतानां च साधूनामवसेयं तेषामुपस्थापनाया अभावात्। उक्तं च—

सव्वमिणं सामाइय छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं।
अविसेसं सामाइय ठियमिय सामन्नसन्नाए ॥१॥
सावज्जजोगविरइ त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च।
इत्तरमावकहं ति य पढमंतिमजिणाणं ॥२॥

तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालीयं ।
सेसाण यावकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ ३ ॥

तथा छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तच्छेदोपस्थापनं, तच्च द्विविधा—सातिचारं निरतिचारं च, तत्र निरतिचारं यदित्वरसामायिकवैतशैक्षकस्य आरोप्यते तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यथा पार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानतीर्थं संक्रामतः पंचयामप्रतिपत्तौ, सातिचारं यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणं, उक्तं च—

सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे ॥१॥

'उभयं चेति' सातिचारं निरतिचारं च 'स्थितकल्पे' इति प्रथमपश्चिमतीर्थंकर-तीर्थकाले ।"

इस उल्लेखमें अजितसे पार्श्वनाथपर्यंत बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके जो छेदोपस्थापनाका अभाव बतलाया है और महाव्रतोंमें स्थित होनेरूप चारित्रको छेदोपस्थापना लिखा है वह मूलाचारके कथनसे मिलता जुलता है । शेष कथनको विशेष अथवा भिन्न कथन कहना चाहिये ।

आशा है इस लेखको पढ़कर सर्वसाधारण जैनी भाई सत्यान्वेषी और अन्य ऐतिहासिक विद्वान् ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ नया अनुभव प्राप्त करेंगे और साथ ही इस बातकी खोज लगायेंगे कि जैनतीर्थंकरोंके शासनमें और किन किन बातोंका परस्पर भेद रहा है ।

५

श्रुतावतार-कथा

('धवल' और 'जयधवल' के आधार पर)

श्रीवीर-हिमाचलसे श्रुत-गंगाका जो निर्मल स्रोत बहा है वह अन्तिम श्रुत-केवली श्रीभद्रबाहुस्वामी तक अविच्छिन्न एक धारामें चला आया है, इसमें किसीको विवाद नहीं है। बादको द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षादिके कारण मतभेदरूपी एक चट्टानके बीचमें आजानेसे वह धारा दो भागोंमें विभाजित होगई, जिनमेंसे एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर शाखाके नामसे प्रसिद्ध हुई। दोनों ही शाखाओंमें अपनी-अपनी तात्कालिक जरूरत और तरीक़तके अनुसार अवतरित श्रुतजलकी रक्षाका प्रयत्न हुआ; किन्तु ग्रहण-धारणकी शक्तिके दिनपर दिन कम होतेजाने और देशकालकी परिस्थितियों अथवा रक्षणादि-विषयक उपेक्षाके कारण कोई भी विद्वान् उस श्रुतको अपने अविकल द्वादशांग-रूपमें सुरक्षित नहीं रख सका और इसलिये उसका मूल शरीर प्रायः क्षीण होता चला गया। जिस-जिस अवधिपर पुनः निबद्ध संगृहीत अथवा लिपिबद्ध होनेके कारण वह और अधिक क्षीण होनेसे बचा है उसकी कथाएँ दोनों ही सम्प्रदायोंमें पाई जाती हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस श्रुतावतारके जो भी प्रकरण उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार* अधिक प्रसिद्ध है। इस श्रुतावतारमें अन्तिम अवधिके तौरपर उन

* यह ग्रन्थ माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके त्रयोदश ग्रन्थ 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह'में मुद्रित हुआ है। उसीपरसे उसके विषयोंका यहाँ उल्लेख किया गया है।

दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा दी गई है जिन पर अन्तको 'धवला' और 'जयधवला' नामकी विस्तृत टीकाएँ—क्रमशः ७२ हज़ार तथा ६० हज़ार श्लोक-परिमाण लिखी गई हैं। भाष्यके रूपमें इनका नाम 'धवल' और 'जयधवल' अधिक प्रसिद्ध है।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी उत्पत्ति

धवलके शुरूमें, कर्ताके 'अर्थकर्ता' और 'ग्रन्थकर्ता' ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान महावीरको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपसे अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणतामें कुछ प्राचीन पद्योंको भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थको गौतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतमने अवधारित किया, जिनका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुतिका पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीरके पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय क्षयोपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टयकी प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुतपर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतमने महावीर-कथित अर्थकी बारह अंगों-चौदह पूर्वोंमें ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुतके कर्ता हुए। उन्होंने अपना वह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य* के प्रति संचारित किया और लोहाचार्यने जम्बूस्वामीके प्रति। ये तीनों सप्त-प्रकारकी लब्धियोंसे सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुतके पारगामी होकर केवलज्ञानको उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृतिको प्राप्त किया था।

जम्बूस्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच आचार्य चतुर्दश-पूर्वके धारी अर्थात् श्रुतज्ञानके पारगामी हुए।

भद्रबाहुके अनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य[1], नागाचार्य[2], सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य[3], बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः

* धवलके 'वेदना' खण्डमें भी लोहाचार्यका नाम दिया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें इस स्थान पर सुधर्म मुनिका नाम पाया जाता है।

१, २, ३, इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जयसेन, नागसेन, विजयसेन, ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवलामें भी जयसेन, नागसेन-रूपसे उल्लेख है परन्तु साथमें विजय-को विजयसेन-रूपसे उल्लेखित नहीं किया। इससे मूल नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

११ आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एक देश धारी हुए।

धर्मसेनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन※ और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एक देशधारी हुए।

कंसाचार्यके अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु† और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देशधारी हुए*।

लोहाचार्यके बाद सर्व अंगों तथा पूर्वोंका वह एकदेशश्रुत जो आचार्य-परम्परासे चला आया था धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ। धरसेनाचार्य अष्टांग महानिमित्तके पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देशके गिरिनगर (गिरनार) पहाड़की चन्द्र-गुहामें स्थित थे उन्हें अपने पासके ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जानेका भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथके आचार्योंके पास, जो उस समय महिमा‡ नगरीमें सम्मिलित हुए

※ यहां पर यद्यपि द्रुमसेन (दुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रंथके 'वेदना' खंडमें और जयधवलामें भी उसे ध्रुवसेन नामसे उल्लेखित किया है—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपणयत्ती' में भी ध्रुवसेन नामका उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है। अथवा द्रुमसेनको इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें द्रुमसेन नामसे ही उल्लेख किया है।

† अनेक पट्टावलियोंमें यशोबाहुको भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्रकी जगह अभयभद्र नामका उल्लेख किया है।

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें इन आचार्योंको शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देश धारी नहीं लिखा, न धर्मसेनादिको चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी लिखा और न विशाखाचार्यादिको शेष चार पूर्वोंके एक देश-धारी ही बतलाया हैं। इसलिये धवलाके ये उल्लेख खास विशेषताको लिए हुए हैं और बुद्धि-ग्राह्य तथा समुचित मालूम होते हैं।

‡ 'महिमानगड'-नामक एक गांव सतारा जिले में है (देखो, 'स्थलनामकोश'), संभवतः यह वही जान पड़ता है।

थे (दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं) ❀ एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धरसेनके वचनानुसार उन आचार्योंने दो साधुओंको, जो कि ग्रहण-धारणमें समर्थ थे, बहुविध निर्मल विनयसे विभूषित तथा शील-मालाके धारक थे, गुरु-सेवामें सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश कुल-जातिसे शुद्ध थे और सकल-कला-पारगामी एवं तीक्ष्ण बुद्धिके धारक आचार्य थे—अन्ध्र देशके वेण्यातट* नगरसे धरसेनाचार्यके पास भेजा। (अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा)। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रिके पिछले भागमें धरसेन भट्टारकने स्वप्नमें सर्व-लक्षण सम्पन्न दो धवल वृषभोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'जयउ सुयदेवदा' ❀ ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्यके पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेनका कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन† विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनयके साथ धरसेन भट्टारकको यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्यके लिये आपकी चरण-शरणमें आए हैं।' इसपर धरसेन भट्टारकने 'सुट्ठु भद्दं' ऐसा कहकर उन दोनोंको आश्वासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

❀ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके निम्न वाक्यसे यह कथन स्पष्ट नहीं होता—वह कुछ गड़बड़को लिये हुये जान पड़ता है:—

"देशेन्द्र (ऽन्ध्र?) देशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा। समुदित मुनीन् प्रति..."

इसमें 'महिमासमुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्रके अर्थका उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाकतटसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है जो कि 'महिमा' और 'वेण्यातट' के वाक्योंको ठीक रूपमें न समझनेका परिणाम हो सकता है।

* 'वेण्या' नामकी एक नदी सतारा जिले में है (देखो 'स्थलनाम कोश')। संभवतः यह उसीके तट पर बसा हुआ नगर जान पड़ता है।

❀ इन्द्रनन्दिश्रुतावतारमें 'जयतु-श्रीदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि प्रसंग श्रुतदेवताका है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें तीन दिनके विश्रामका उल्लेख है।

*'सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहय-सुएहि ।''
मट्टिय-मसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥१॥
धद-गारवपडिवद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्टबोहिलाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥२॥

इस वचनसे स्वच्छन्दचारियोंको विद्या देना संसार-भयका बढ़ाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्नके दर्शनसे ही पुरुषभेदको जाननेवाले धरसेनाचार्यने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदयको मुक्ति दिलाती है* । तब धरसेनने उन्हें दो विद्याएँ दीं—जिनमें एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी—और कहा कि इन्हें षष्ठोपवासके साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्यादेवताओंको देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहरको बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। देवताओंका ऐसा स्वभाव नहीं होता, यह विचार कर जब उन मंत्र-व्याकरणमें निपुण मुनियोंने हीनाधिक अक्षरोंका क्षेपण-अपनयन विधान करके—कमीवेशीको दूरकरके—उन मंत्रोंको फिरसे पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या देवियाँ अपने अपने स्वभाव-रूपमें स्थित होकर नजर आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियोंने विद्या-सिद्धिका सब हाल पूर्णविनयके साथ भगवद् धरसेनसे निवेदन किया। इस पर धरसेनजीने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्रके दिन उस ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम 'महाकम्मपयडिपाहुड' (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) था। फिर क्रमसे उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होने पर) आषाढ़ शुक्ला एकादशीको

---

* इन गाथाओंका संक्षिप्त आशय यह है कि 'जो आचार्य गौरवादिक वशवर्ती हुआ मोहसे ऐसे श्रोताओंको श्रुतका व्याख्यान करता है जो शैलघन, भग्न घट, सर्प, छलनी, महिष, मेष, जोंक, शुक, मिट्टी और मशकके समान हैं—इन जैसी प्रकृतिको लिये हुए हैं—वह मूढ बोधिलाभसे भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसार-वनमें परिभ्रमण करता है।'

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति, इत्यादि वाक्य के द्वारा परीक्षाकी यही बात सूचित की है; परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्तनादि-विषयक कथन, जो इसपर 'धरसेन' से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

पूर्वाह्न के समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनयपूर्वक ग्रन्थका अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतोंने वहांपर एक मुनीकी शंख-तुरहीके शब्द सहित पुष्पबलिसे महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उस मुनिका 'भूतबलि' नाम रक्खा, और दूसरे मुनिका नाम 'पुष्पदन्त' रक्खा, जिसकी पूजाके अवसर पर भूतोंने उसकी अस्तव्यस्त रूपसे स्थित विषमदन्त पंक्तिको सम अर्थात् ठीक कर दिया था †। फिर उसी नाम-करणके दिन§ धरसेनाचार्यने उन्हें रुखसत (विदा) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है, ऐसा विचार कर वे वहां से चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर+ में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया ×।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा जिनपालित'※ को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो बनवास देशको चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्राविड) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मकसूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। भगवान् भूतबलिने जिनपालितके पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रोंको देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हें 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के व्युच्छेदका विचार

---

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उक्त मुनियोंका यह नामकरण धरसेनाचार्यके द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।

§ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें ग्रन्थसमाप्ति और नामकरणका एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रुखसत करना लिखा है।

+ यह गुजरातके भरोंच (Broach) जिलेका प्रसिद्ध नगर है।

× इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्यने उन दोनों मुनियोंको 'कुरीश्वर' (?) पत्तन भेज दिया था जहां वे ९ दिनमें पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्ण पंचमीको वर्षायोग ग्रहण किया था।

※ इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें जिनपालितको पुष्पदन्तका भानजा लिखा है और दक्षिणकी ओर विहार करते हुए दोनों मुनियोंके करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।

उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने (उक्त सूत्रोंके बाद) '**द्रव्यप्रमाणानुगम**' नामके प्रकरणको आदिमें रखकर ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थका नाम ही '**षट्खण्डागम**' है; क्योंकि इस आगम ग्रन्थमें १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबंध, ३ बन्धस्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं, जो सब महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत-नामक मूलागमग्रन्थको संक्षिप्त करके अथवा उसपरसे समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुतके अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचमवस्तुका चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खण्डागम श्रुतके मूलतंत्रकार श्रीवर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलि-पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये। भूतबलि-पुष्पदन्तमें पुष्पदन्ताचार्य सिर्फ 'सत्प्ररूपणा' नामके प्रथम अधिकारके कर्ता हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थके रचयिता भूतबलि आचार्य हैं। ग्रन्थका श्लोक-परिमाण इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार ३६ हजार है, जिनमेंसे ६ हजार संख्या पांच खण्डोंकी और शेष महाबन्ध खण्डकी है; और ब्रह्महेमचन्द्रके श्रुतस्कन्धानुसार ३० हजार है।

यह तो हुई धवलाके आधारभूत षट्खण्डागमश्रुतके अवतारकी कथा; अब जयधवलाके आधारभूत 'कषायपाहुड' श्रुतको लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जय धवलामें इसके अवतारकी प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीरसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तक ऊपर वर्णन की गई है—मुख्य भेद इतना ही है कि यहाँ पर एक-एक विषयके आचार्योंका काल भी साथमें निर्दिष्ट कर दिया गया है, जब कि 'धवला' में उसे अन्यत्र 'वेदना' खण्डका निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्योंके कुछ नामोंका है। जयधवलामें गौतमस्वामीके बाद लोहाचार्यका नाम न देकर सुधर्माचार्यका नाम दिया है, जो कि वीर भगवान्‌के बाद होने वाले तीन केवलियोंमेंसे द्वितीय केवलीका प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपालकी जगह जसपाल और जसबाहूकी जगह जयबाहू नामका उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियोंको देखते हुए 'जस' और 'जय' के लिखनेमें बहुत ही कम अन्तर प्रतीत होता है इससे साधारण लेखकों द्वारा 'जस' का 'जय' और 'जय' का 'जस' समझ लिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्यका अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवलामें कहीं

कहीं गौतम और जम्बूस्वामीके मध्य लोहाचार्यका ही नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अणुभागविहत्ति' प्रकरणके निम्न अंशसे प्रकट है :—

"विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहज्ज-जंबुसामियादि आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय"....
(आराकी प्रति पत्र ३१३)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रन्थोंके रचयिता वीरसेनाचार्यने एक ही व्यक्तिके लिये इन दो नामोंका स्वतन्त्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब वे दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्रसे अथवा किसी दूसरे पुष्ट प्रमाणसे अभी तक नहीं होता —पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी 'सुधर्मस्वामी' नामका उल्लेख है। अस्तु; जयधवला परसे शेष कथाकी उपलब्धि निम्न प्रकार होती है:—

आचारांग-धारी लोहाचार्यका स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वोंका जो एकदेशश्रुत आचार्य परम्परासे चला आया था वह गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवें ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसाय-पाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णवके पारगामी थे। उन्होंने ग्रन्थ-व्युच्छेदके भयसे और प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर, सोलह हजार पद-परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कषायपाहुड') का १८०* सूत्र गाथाओंमें उपसंहार किया—सार खींचा। साथ ही, इन गाथाओंके सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदिकी सूचक ५३ विवरण-गाथाएँ भी और रचीं, जिससे गाथाओंकी कुल संख्या २३३ हो गई। इसके बाद ये सूत्र-गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुईं†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठके द्वारा मूलसूत्र-गाथाओंकी संख्या १८३ सूचित की है, जो ठीक नहीं है और समझनेकी किसी गलतीपर निर्भर है। जयधवलामें १८० गाथाओंका खूब खुलासा किया गया है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें लिखा है कि 'गुणधराचार्यने इन गाथासूत्रोंको रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षुको बतलाई।' इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

गाथाओंके अर्थको भलेप्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रोंको साथमें लेकर ही जयधवला-टीकाकी रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग (२० हजार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्यका और शेष (४० हजार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयधवलामें चूर्णिसूत्रों पर लिखे हुए उच्चारणाचार्यके वृत्ति-सूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें १२ हजार श्लोक-परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रंथोंकी रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार-से अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि धवला और जयधवलामें गौतम स्वामीसे आचारांगधारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़काल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धर-सेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपर-म्पराका कोई खास उल्लेख नहीं किया गया* और इस तरह इन दोनों आचार्यों का समय यों ही वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्तिके योग्य है इसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना जरूर कह देना होगा कि मूल सूत्रग्रन्थोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जायगा।

---

* इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट लिख दिया है कि इन गुण-धर और धरसेनाचार्यकी गुरूपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है, क्योंकि उसको बतलानेवाले शास्त्रों तथा मुनि-जनोंका इस समय अभाव है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और उनके ग्रन्थ

प्राकृत दिगम्बर जैनवाङ्मयमें सबसे अधिक ग्रन्थ (२२ या २३) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध हैं, जो ८४ पाहुड ग्रन्थोंके कर्ता प्रसिद्ध हैं और जिनके विदेह-क्षेत्रमें श्रीसीमन्धर-स्वामीके समवसरणमें जाकर साक्षात् तीर्थंकर-मुख तथा गणधरदेवसे बोध प्राप्त करनेकी कथा भी सुप्रसिद्ध है* और जिनका समय विक्रमकी प्रायः प्रथम शताब्दी माना जाता है।

यहाँ पर मैं इन ग्रन्थकार-महोदयके सम्बन्धमें इतना और बतला देना चाहता हूँ कि इनका पहला—सम्भवतः दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दी था †; परन्तु ये कोण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक प्रसिद्धको प्राप्त हुए हैं, जिसका कारण 'कोंण्डकुन्दपुर' के अधिवासी होना बतलाया जाता है,

---

* देवसेनाचार्यने भी, अपने दर्शनसार (वि० सं० ९९०) की निम्न गाथामें, कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) के सीमंधर-स्वामीसे दिव्यज्ञान प्राप्त करनेकी बात लिखी है;—

जइ पउमणंदि-णाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

† तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधानः।
श्रीकौंडकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्ससंयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० ४०

इसी नामसे इनकी वंशपरम्परा चली है अथवा 'कुन्दकुन्दान्वय' स्थापित हुआ है, जो अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त होकर दूर दूर तक फैला है। मर्कराके ताम्रपत्रमें, जो शक संवत् ३८८ में उत्कीर्ण हुआ है, इसी कोण्डकुन्दान्वयकी परम्परामें होनेवाले छह पुरातन आचार्योंका गुरु-शिष्यके क्रमसे उल्लेख है*। ये मूलसंघके प्रधान आचार्य थे, पूतात्मा थे, सत्संयम एवं तपश्चरणके प्रभावसे इन्हें चारण-ऋद्धिकी प्राप्ति हुई थी और उसके बलपर ये पृथ्वीसे प्रायः चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्षमें चला करते थे। इन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी—जैन आगमकी—प्रतिष्ठा की है—उसकी मान्यता एवं प्रभावको स्वयंके आचरणादि-द्वारा (खुद आमिल बनकर) ऊँचा उठाया तथा सर्वत्र व्याप्त किया है अथवा यों कहिये कि आगमके अनुसार चलनेको खास महत्व दिया है, ऐसा श्रवणबेलगोलके शिलालेखों आदिसे जाना जाता है‡। ये बहुत ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित आचार्य हुए हैं। संभवतः इनकी उक्त श्रुत-प्रतिष्ठाके कारण ही शास्त्रसभाकी आदिमें जो मंगलाचरण 'मङ्गलं भगवान् वीरो' इत्यादि किया जाता है उस में 'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो' इस रूपसे इनके नामका खास उल्लेख है।

आपके उपलब्ध ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१ प्रवचनसार, २ समयसार, ३ पंचास्तिकाय—ये तीनों ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थोंमें प्रधान स्थान रखते हैं, बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और अखिल

---

* देखो, कुर्ग-इन्स्क्रिपशन्सका निम्न अंश :— (E. C. I.)

"......श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय—गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य अभयणंदिभटारतस्य शिष्यस्य शीलभद्र भटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दि-भटारर्गे अष्ट-अशीतिउत्तरस्य त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य माघमासे......"

‡ वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे-श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
—श्र० शि० ५४

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यंजयितुं यतीशः।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥—श्र० शि० १०५

जैन समाजमें समान आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। पहलेका विषय ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप तत्व-त्रयके विभागसे तीन अधिकारोंमें विभक्त है, दूसरेका विषय शुद्ध आत्मतत्त्व है और तीसरेका विषय कालद्रव्यसे भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश नामके पाँच द्रव्योंका सविशेष-रूपसे वर्णन है। प्रत्येक ग्रंथ अपने-अपने विषयमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। हरएक का यथेष्ट परिचय उस—उस ग्रंथको स्वयं देखने से ही सम्बन्ध रखता है।

इनपर अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्यकी खास संस्कृत टीकाएं हैं, तथा बालचन्द्रदेवकी कन्नड टीकाएँ भी हैं, और भी दूसरी कुछ टीकाएँ प्रभाचन्द्रादिकी संस्कृत तथा हिन्दी आदिकी उपलब्ध हैं। अमृतचंद्राचार्यकी टीकानुसार प्रवचनसारमें २७५ समयसारमें ४१५ और पंचास्तिकायमें १७३ गाथाएँ हैं; जब कि जयसेनाचार्यकी टीकाके पाठानुसार इन ग्रंथोंमें गाथाओंकी संख्या क्रमशः ३११, ४३९ १८१ है। संक्षेपमें, जैनधर्मका मर्म अथवा उसके तत्त्वज्ञानको समझनेके लिये ये तीनों ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हैं।

४. नियमसार—कुन्दकुन्दका यह ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण है और अध्यात्म-विषयको लिये हुए है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नियम—नियमसे किया जानेवाला कार्य—एवं मोक्षोपाय बतलाया हैं और मोक्षके उपायभूत सम्यग्दर्शनादिका स्वरूपकथन करते हुए उनके अनुष्ठानका तथा उनके विपरीत मिथ्यादर्शनादिके त्यागका विधान किया है और इसीको (जीवनका) सार निर्दिष्ट किया है। इस ग्रन्थपर एकमात्र संस्कृत टीका पद्मप्रभ-मलधारिदेवकी उपलब्ध है और उसके अनुसार ग्रन्थकी गाथा-संख्या १८७ है। टीकामें मूलको द्वादश श्रुतस्कन्धरूप जो १२ अधिकारोंमें विभक्त किया है वह विभाग मूलकृत नहीं है—मूल परसे उसकी उपलब्धि नहीं होती, मूलको समझनेमें उससे कोई मदद भी नहीं मिलती और न मूलकारका वैसा कोई अभिप्राय ही जाना जाता है। उसकी सारी जिम्मेदारी टीकाकारपर है। इस टीकाने मूलको उल्टा कठिन कर दिया है। टीकामें बहुधा मूलका आश्रय छोड़कर अपना ही राग अलापा गया है—मूलका स्पष्टीकरण जैसा चाहिये था वैसा नहीं किया। टीकाके बहुतसे वाक्यों और पद्योंका सम्बन्ध परस्परमें नहीं मिलता। टीकाकारका आशय अपनी गद्य-पद्यात्मक काव्यशक्तिको प्रकट करनेका

अधिक रहा है—उसके काव्योंका मूलके साथ मेल बहुत कम है। अध्यात्म-कथन होनेपर भी जगह जगहपर स्त्रीका अनावश्यक स्मरण किया गया है और अलंकाररूपमें उसके लिये उत्कंठा व्यक्त की गई है, मानो सुख स्त्रीमें ही है। इस ग्रंथका टीकासहित हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने किया है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।

५. **बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)**—इसमें १ अध्रुव (अनित्य), २ अशरण, ३ एकत्व, ४ अन्यत्व, ५ संसार, ६ लोक, ७ अशुचित्व, ८ आस्रव, ९ संवर, १० निर्जरा, ११ धर्म, १२ बोधिदुर्लभ नामकी बारह भावनाओंका ९१ गाथाओंमें सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथकी 'सव्वे वि पोग्गला खलु' इत्यादि पांच गाथाएँ (नं० २५ से २९) श्रीपूज्यपादाचार्य-द्वारा, जो कि विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् हैं, सर्वार्थसिद्धिके द्वितीय अध्यायान्तर्गत दशवें सूत्रकी टीकामें 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत की गई हैं।

६. **दंसणपाहुड**—इसमें सम्यग्दर्शनके माहात्म्यादिका वर्णन ३६ गाथाओं-में है और उससे यह जाना जाता है कि सम्यग्दर्शनको ज्ञान और चारित्रपर प्रधानता प्राप्त है। वह धर्मका मूल है और इसलिये जो सम्यग्दर्शनसे—जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानसे—भ्रष्ट है उसको सिद्धि अथवा मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

७. **चारित्तपाहुड**—इस ग्रंथकी गाथासंख्या ४४ और उसका विषय सम्यक् चारित्र है। सम्यक्चारित्रको सम्यक्त्वचरण और संयमचरण ऐसे दो भेदोंमें विभक्त करके उनका अलग अलग स्वरूप दिया है और संयमचरणके सागार अनगार ऐसे दो भेद करके उनके द्वारा क्रमशः श्रावकधर्म तथा यतिधर्मका अतिसंक्षेपमें प्रायः सूचनात्मक निर्देश किया है।

८. **सुत्तपाहुड**—यह ग्रंथ २७ गाथात्मक है। इसमें सूत्रार्थकी मार्गणाका उपदेश है—आगमका महत्व ख्यापित करते हुए उसके अनुसार चलनेकी शिक्षा दी गई है। और साथ ही सूत्र (आगम) की कुछ बातोंका स्पष्टताके साथ निर्देश किया गया है, जिनके संबंधमें उस समय कुछ विप्रतिपत्ति या ग़लतफहमी फैली हुई थी अथवा प्रचारमें आरही थी।

९. **बोधपाहुड**—इस पाहुड़ का शरीर ६२ गाथाओंसे निर्मित है। इनमें

१ आयतन, २ चैत्यगृह, ३ जिनप्रतिमा, ४ दर्शन ५ जिनबिम्ब, ६ जिनमुद्रा, ७ आत्मज्ञान, ८ देव, ९ तीर्थ, १० अर्हन्त, ११ प्रव्रज्या इन ग्यारह बातोंका क्रमशः आगमानुसार बोध दिया गया है। इस ग्रंथकी ६१ वीं गाथामें*कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य प्रकट किया है जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं; क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जिनकथित श्रुतमें ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था जिसे उक्त गाथामें '**सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं**' इन शब्दोंद्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषा-सूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१ वीं गाथाके भद्रबाहु भद्रबाहुद्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२ वीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहुका जो कि बारह अंग और चौदहपूर्वके ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगलके रूपमें जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर 'गमकगुरु' लिखा है। इस तरह अन्तकी दोनों गाथाओंमें दो अलग अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

१०. **भावपाहुड**—१६३ गाथाओंका यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें भावकी—चित्तशुद्धिकी—महत्ताको अनेक प्रकारसे सर्वोपरि ख्यापित किया गया है। बिना भावके बाह्यपरिग्रहका त्याग करके नग्न दिगम्बर साधु तक होने और वनमें जा बैठनेको भी व्यर्थ ठहराया है। परिणामशुद्धिके बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुकता और न बिना भावके कोई पुरुषार्थ ही सधता है, भावके बिना सब कुछ निःसार है इत्यादि अनेक बहुमूल्य शिक्षाओं एवं मर्मकी बातोंसे यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। इसकी कितनी ही गाथाओंका अनुसरण गुणभद्राचार्यने अपने आत्मानुशासन ग्रन्थमें किया है।

११. **मोक्खपाहुड**—यह मोक्ष-प्राभृत भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसकी गाथा-संख्या १०६ है। इसमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनके स्वरूपको समझाया है और मुक्ति अथवा

* सद्दवियारो हूओ भासा-सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥ ६१॥

परमात्मपद कैसे प्राप्त हो सकता है इसका अनेक प्रकारसे निर्देश किया है। इस ग्रन्थके कितने ही वाक्योंका अनुसरण पूज्यपाद आचार्यने अपने 'समाधितंत्र' ग्रन्थ में किया है।

इन दंसणपाहुडसे मोक्खपाहुड तकके छह प्राभृत ग्रन्थोंपर श्रुतसागरसूरिकी टीका भी उपलब्ध है, जो कि माणिकचन्द-ग्रंथमालाके षट्प्राभृतादिसंग्रहमें मूल-ग्रंथोंके साथ प्रकाशित हो चुकी है।

१२. लिंगपाहुड—यह द्वाविंशति (२२) गाथात्मक ग्रंथ है। इसमें श्रमणलिङ्गको लक्ष्यमें लेकर उन आचरणोंका उल्लेख किया गया है जो इस लिङ्गधारी जैनसाधुके लिये निषिद्ध हैं और साथ ही उन निषिद्ध आचरणोंका फल भी नरकवासादि बतलाया गया है तथा उन निषिद्धाचारमें प्रवृत्ति करनेवाले लिङ्गभावसे शून्य साधुओंको श्रमण नहीं माना है—तिर्यञ्चयोनि बतलाया है।

१३. शीलपाहुड—यह ४० गाथाओंका ग्रन्थ है। इसमें शीलका—विषयोंसे विरागका—महत्व ख्यापित किया है और उसे मोक्ष-सोपान बतलाया है। साथ ही जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तपको शीलका परिवार घोषित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथका विषय गृहस्थों तथा मुनियोंके रत्नत्रय-धर्म-सम्बन्धी कुछ विशेष कर्त्तव्योंका उपदेश अथवा उनकी उचित-अनुचित प्रवृत्तियोंका कुछ निर्देश है। परन्तु यह ग्रंथ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थितिमें स्थित है—जिस रूपमें अपनेको प्राप्त हुआ है उसपरसे न तो इसकी ठीक पद्य-संख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूलरूपका ही कोई पता चलता है। माणिकचन्द-ग्रंथमालाके षट्प्राभृतादि-संग्रहमें इस ग्रंथकी पद्य-संख्या १६७ दी है। साथ ही फुटनोट्समें सम्पादकने जिन दो प्रतियों (क-ख) का तुलनात्मक उल्लेख किया है उसपरसे दोनों प्रतियोंमें पद्योंकी संख्या बहुत कुछ विभिन्न (हीनाधिक) पाई जाती है और उनका कितना ही क्रमभेद भी उपलब्ध है—सम्पादनमें जो पद्य जिस प्रतिमें पाये गये उन सबको ही बिना जांचके यथेच्छ क्रमके साथ ले लिया गया है। देहलीके पंचायती मन्दिरकी प्रति-परसे जब मैंने इस मा० ग्र० संस्करणकी तुलना की तो मालूम हुआ कि उसमें इस ग्रंथकी १२ गाथाएँ नं० ८, ३४, ३७, ४६, ५५, ५६, ६३, ६६, ६७,

११३, १२५, १२६ नहीं हैं और इसलिये उसमें ग्रंथकी पद्यसंख्या १५५ है। साथ ही उसमें इस ग्रंथकी गाथा नं० १७, १८ को आगे-पीछे; ५२ व ५३, ९१ व ९६ को क्रमशः १६३ के बाद, ५४ को १६४ के बाद, ६० को १६५ के पश्चात् १०१ व १०२ को आगे पीछे; ११० व १११को १६२ के अनन्तर, १२१ को ११९ के पूर्व और १२२ को १५४ के बाद दिया है। पं० कलापा भरमापा निटवेने इस ग्रंथको सन् १९०७ में मराठी अनुवादके साथ मुद्रित कराया था उसमें भी यद्यपि पद्य-संख्या १५५ है, और क्रमभेद भी देहली-प्रति-जैसा है, परन्तु उक्त १२ गाथाओंमें से ६३ वीं गाथाका अभाव नहीं है—वह मौजूद है; किन्तु मा० ग्र० संस्करणकी ३५ वीं गाथा नहीं है, जो कि देहली की उक्त प्रतिमें उपलब्ध है। इस तरह ग्रंथप्रतियोंमें पद्य-संख्या और उनके क्रमका बहुत बड़ा भेद पाया जाता है।

इसके सिवाय, कुछ अपभ्रंश भाषाके पद्य भी इन प्रतियोंमें उपलब्ध होते हैं, एक दोहा भी गाथाओंके मध्यमें आ घुसा है, विचारोंकी पुनरावृत्तिके साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, गण-गच्छादिके उल्लेख भी मिलते हैं और ये सब बातें कुन्दकुन्दके ग्रंथोंकी प्रकृतिके साथ संगत मालूम नहीं होतीं—मेल नहीं नहीं खातीं। और इसलिये विद्वद्वर प्रोफेसर ए० एन० उपाध्येने (प्रवचनसारकी अंग्रेजी प्रस्तावनामें) इस ग्रंथपर अपना जो यह विचार व्यक्त किया है वह ठीक ही है कि—'रयणसार ग्रंथ गाथाविभेद, विचारपुनावृत्ति, अपभ्रंश पद्योंकी उपलब्धि, गण-गच्छादि उल्लेख और बेतरतीबी आदिको लिये हुए जिस स्थितिमें उपलब्ध है उसपरसे वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्दका नहीं कहा जा सकता-- कुछ अतिरिक्त गाथाओंकी मिलावटने उसके मूलमें गड़बड़ उपस्थित कर दी है। और इसलिये जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जाएँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस समग्र रयणसार ग्रंथके कर्ता हैं।' इस ग्रंथपर संस्कृतकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

१५. **सिद्धभक्ति**–यह १२ गाथाओंका एक स्तुतिपरक ग्रंथ है, जिसमें सिद्धों की, उनके गुणों, भेदों, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धिके मार्ग तथा क्रमका उल्लेख करते हुए, अति-भक्तिभावके साथ वन्दना की गई है। इसपर प्रभा-*चन्द्राचार्यकी एक संस्कृत टीका है, जिसके अन्तमें लिखा है कि*—"संस्कृताः

सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः'' अर्थात् संस्कृतकी सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकी बनाई हुई हैं और प्राकृतकी सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्यकृत हैं। दोनों प्रकारकी भक्तियोंपर प्रभाचन्द्राचार्यकी टीकाएँ हैं। इस भक्तिपाठके साथमें कहीं कहीं कुछ दूसरी पर उसी विषयकी, गाथाएँ भी मिलती हैं, जिनपर प्रभाचन्द्रकी टीका नहीं है और जो प्रायः प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं; क्योंकि उनमेंसे कितनी ही दूसरे ग्रंथोंकी अंगभूत हैं। शोलापुरसे 'दशभक्ति' नामका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें ऐसी ८ गाथाओं का शुरूमें एक संस्कृतपद्य-सहित अलग क्रम दिया है। इस क्रमकी 'गमणागमणविमुक्के' और 'तवसिद्धे णयसिद्धे' नामकी गाथाएँ ऐसी हैं जो दूसरे ग्रंथोंमें नहीं पाई गईं।

१६. **श्रुतभक्ति**—यह भक्तिपाठ एकादश-गाथात्मक है। इसमें जैनश्रुतके आचाराङ्गादि द्वादश अंगोंका भेद-प्रभेद-सहित उल्लेख करके उन्हें नमस्कार किया गया गया है। साथ ही, १४ पूर्वोमेंसे प्रत्येकर्का वस्तुसंख्या और प्रत्येक वस्तुके प्राभृतों (पाहुडों) की संख्या भी दी है।

१७. **चारित्रभक्ति**—इस भक्तिपाठकी पद्यसंख्या १० है और वे अनुष्टुभ् छन्दमें हैं। इसमें श्रीवर्द्धमान-प्रणीत सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंयम (सूक्ष्मसाम्पराय) और यथाख्यात नामके पाँच चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों तथा दशधर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहोंके जय और उत्तरगुणोंका उल्लेख करके उनकी सिद्धि और सिद्धि-फल मुक्तिसुखकी भावना की है।

१८. **योगि (अनगार) भक्ति**—यह भक्तिपाठ २३ गाथाओंको अङ्गरूप में लिये हुए है। इसमें उत्तम अनगारों—योगियोंकी अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों तथा गुणोंके उल्लेखपूर्वक उन्हें बड़ी भक्तिभावके साथ नमस्कार किया है, योगियोंके विशेषणरूप गुणोंके कुछ समूह परिसंख्यानात्मक पारिभाषिक शब्दों में दो की संख्यासे लेकर चौदह तक दिये हैं; जैसे 'दोदोसविप्पमुक्कं' तिदंडविरदं, तिसल्लपरिसुद्धं, तिण्णियगारवरहिअं, तियरणसुद्ध, चउदसगंथपरिसुद्ध, चउदसपुव्वपगब्भ और चउदसमलविवज्जिद' इस भक्तिपाठके द्वारा जैनसाधुओंके आदर्श-जीवन एवं चर्याका अच्छा स्पृहणीय सुन्दर स्वरूप सामने आजाता है.

कुछ ऐतिहासिक बातोंका भी पता चलता है, और इससे यह भक्तिपाठ बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

१६. **आचार्यभक्ति**—इसमें १० गाथाएँ हैं और उनमें उत्तम-आचार्योंके गुणोंका उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। आचार्य परमेष्ठी किन किन खास गुणोंसे विशिष्ट होने चाहियें, यह इस भक्तिपाठपरसे भले प्रकार जाना जाता है।

२०. **निर्वाणभक्ति**—इसकी गाथासंख्या २७ है। इसमें प्रधानतया निर्वाणको प्राप्त हुए तीर्थंकरों तथा दूसरे पूतात्म-पुरुषोंके नामोंका, उन स्थानोंके नाम-सहित स्मरण तथा वन्दन किया गया है जहाँसे उन्होंने निर्वाण-पदकी प्राप्ति की है। साथ ही, जिन स्थानोंके साथ ऐसे व्यक्ति-विशेषोंकी कोई दूसरी स्मृति खास तौरपर जुड़ी हुई है ऐसे अतिशय क्षेत्रोंका भी उल्लेख किया गया है और उनकी तथा निर्वाणभूमियोंकी भी वन्दना की गई है। इस भक्तिपाठपर से कितनी ही ऐतिहासिक तथा पौराणिक बातों एवं अनुश्रुतियोंकी जानकारी होती है, और इस दृष्टिसे यह पाठ अपना खास महत्व रखता है।

२१. **पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति**—इसकी पद्यसंख्या ७ (६) है। इसके प्रारम्भिक पाँच पद्योंमें क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पाँच गुरुवों—परमेष्ठियोंका स्तोत्र है, छठे पद्यमें स्तोत्रका फल दिया है और ये छहों पद्य स्रग्विणी छंदमें हैं। अन्तका ७ वाँ पद्य गाथा है, जिसमें अर्हदादि पंच परमेष्ठियोंके नाम देकर और उन्हें पंचनमस्कार (णमोकारमंत्र) के अंगभूत बतलाकर उनसे भवभवमें सुखकी प्रार्थना की गई है। यह गाथा प्रक्षिप्त जान पड़ती है। इस भक्तिपर प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका नहीं है।

२२. **थोस्सामि थुदि**—(तीर्थंकरभक्ति)—यह 'थोस्सामि' पदसे प्रारंभ होनेवाली अष्टगाथात्मक स्तुति है, जिसे 'तित्थयरभक्ति' (तीर्थंकरभक्ति) भी कहते हैं। इसमें वृषभादि-वर्द्धमान-पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी, उनके नामोल्लेख-पूर्वक, वन्दना की गई है और तीर्थंकरोंके लिये जिन, जिनवर, जिनवरेन्द्र, नरप्रवर, केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधूत-रज-मल, लोकोद्योतकर, अर्हन्त, प्रहीन-जर-मरण, लोकोत्तम, सिद्ध, चन्द्र-निर्मलतर, आदित्याधिकप्रभ और सागरमिव गम्भीर जैसे विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। और अन्तमें

उनसे आरोग्यज्ञान-लाभ (निरावरण अथवा मोहविहीन ज्ञानप्राप्ति), समाधि (धर्म्य-शुक्लध्यानरूप चारित्र), बोधि (सम्यग्दर्शन) और सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) की प्रार्थना की गई है। यह भक्तिपाठ प्रथम पद्यको छोड़ कर शेष सात पद्योंके रूपमें थोड़ेसे परिवर्तनों अथवा पाठ-भेदोंके साथ, श्वेताम्बर समाजमें भी प्रचलित है और इसे 'लोगस्स सूत्र' कहते हैं। इस सूत्रमें 'लोगस्स' नामके प्रथम पद्यका छांदसिक रूप शेष पद्योंसे भिन्न है—शेष छहों पद्य जब गाथारूपमें पाये जाते हैं तब यह अनुष्टुभ्-जैसे छंदमें उपलब्ध होता है, और यह भेद ऐसे छोटे ग्रंथमें बहुत ही खटकता है—खासकर उस हालतमें जबकि दिगम्बर सम्प्रदायमें यह अपने गाथारूपमें ही पाया जाता है। यहाँ पाठभेदोंकी दृष्टिसे दोनों सम्प्रदायों के दो पद्योंको तुलनाके रूपमें रक्खा जाता है :—

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं-तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणे ॥ २ ॥ —दिगम्बरपाठ
लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥ —श्वेताम्बरपाठ
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥ ७ ॥ —दिगम्बरपाठ
कित्तिय वंदिय महिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाहं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥ —श्वेताम्बरपाठ*

इन दोनों नमूनोंपरसे पाठक इस स्तुतिकी साम्प्रदायिक स्थिति और मूलमें एकताका अच्छा अनुभव कर सकते हैं। हो सकता है कि यह स्तुतिपाठ और भी अधिक प्राचीन—सम्प्रदाय-भेदसे भी बहुत पहलेका हो और दोनों सम्प्रदायोंने इसे थोड़े थोड़ेसे परिवर्तनके साथ अपनाया हो। अस्तु।

कुन्दकुन्दके ये सब ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

२३. मूलाचार और वट्टकेर—'मूलाचार' जैन साधुओंके आचार-विषयका एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। वर्तमानमें दिगम्बर-सम्प्रदायका

---

* दोनों पद्योंका श्वेताम्बरपाठ पं० सुखलालजी-द्वारा सम्पादित 'पंचप्रतिक्रमण' ग्रन्थसे लिया गया है।

'आचाराङ्ग' सूत्र समझा जाता है। धवला टीकामें आचाराङ्गके नामसे उसका नमूना प्रस्तुत करते हुए कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं, वे भी इस ग्रन्थमें पाई जाती हैं; जब कि श्वेताम्बरोंके आचाराङ्गमें वे उपलब्ध नहीं हैं। इससे भी इस ग्रंथको आचाराङ्गकी ख्याति प्राप्त है। इसपर 'आचारवृत्ति' नामकी एक टीका आचार्य वसुनन्दीकी उपलब्ध है, जिसमें इस ग्रन्थको आचाराङ्गका उन्हीं पूर्वनिबद्ध द्वादश अधिकारोंमें उपसंहार (सारोद्धार) बतलाया, और उसके तथा भाषाटीकाके अनुसार इस ग्रथकी पद्यसंख्या १२४३ हैं। वसुनन्दी आचार्यने अपनी टीकामें इस ग्रन्थके कर्ताको वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमें उल्लेखित किया है। पहला रूपटीकाके प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्यमें, दूसरा ९वें १०वें, ११वें अधिकारों के सन्धिवाक्योंमें और तीसरा ७ वें अधिकारके सन्धि-वाक्यमें पाया जाता है*। परन्तु इस नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रंथप्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता; और इसलिये ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कालरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं?

मूलाचारकी कितनी ही ऐसी पुरानी हस्तलिखित प्रतियां पाई जाती हैं जिनमें ग्रंथकर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया हुआ है। डाक्टर ए० एन० उपाध्येको दक्षिणभारतकी ऐसी कुछ प्रतियोंको स्वयं देखनेका अवसर मिला है और जिन्हें, प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें, उन्होंने quite genuine in their appearance—'अपने रूपमें बिना किसी मिलावटके बिल्कुल असली प्रतीत होनेवाली' लिखा है। इसके सिवाय, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालामें मूलाचारकी जो सटीक प्रति प्रकाशित हुई है उसकी अन्तिम पुष्पिकामें भी मूलाचारको 'कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत' लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है :—

"इति मूलाचार-विवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत-मूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।"

यह सब देखकर मेरे हृदयमें खयाल उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द एक बहुत

* देखो, माणिकचन्दग्रंथमालामें प्रकाशित ग्रंथके दोनों भाग नं० १९, २३।

बड़े प्रवर्तक आचार्य हुए हैं—आचार्य भक्तिमें उन्होंने स्वयं आचार्यके लिये 'प्रवर्तक' होना बहुत बड़ी विशेषता बतलाया है * और 'प्रवर्तक' विशिष्ट साधुओंकी एक उपाधि है, जो श्वेताम्बर जैन समाजमें आज भी व्यवहृत है। हो सकता है कि कुन्दकुन्दके इस प्रवर्तकत्व-गुणको लेकर ही उनके लिये यह 'वट्टकेर' जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। और इसलिये मैंने वट्टकेर, वट्टकेरि और वट्टेरक इन तीनों शब्दोंके अर्थपर गम्भीरताके साथ विचार करना उचित समझा। तदनुसार मुझे यह मालूम हुआ कि 'वट्टक' का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, 'इरा' गिरा-वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी-प्रवर्तिका हो—जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगाने वाली हो—उसे 'वट्टकेर' समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों—प्रवर्तकोंमें जो इरि=गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि=समर्थ-शक्तिशाली हो उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिये। तीसरे, 'वट्ट' नाम वर्तन—आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं, सदाचारमें जो प्रवृत्ति करानेवाला हो उसका नाम 'वट्टेरक' है; अथवा 'वट्ट' नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी 'वट्टेरक' कहते हैं। और इसलिये अर्थकी दृष्टि से ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिये वट्टेरकाचार्य (प्रवर्तकाचार्य) जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। मूलाचारकी कुछ प्राचीन प्रतियोंमें ग्रन्थकर्तृत्वरूपसे कुन्दकुन्दका स्पष्ट नामोल्लेख उसे और भी अधिक पुष्ट करता है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग १२ किरण १) में प्रकाशित 'मूलाचारके कर्ता वट्टकेरि' शीर्षक अपने हालके लेखमें, जो यह कल्पना की है कि, बेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचारके कर्ता उन्हींमेंसे किसी बेट्टगेरि या वेट्टकेरी ग्रामके ही रहनेवाले होंगे और उसपरसे कोण्डकुन्दादिकी तरह 'बेट्टकेरि' कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत मालूम नहीं होती—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। 'बेट्ट' शब्द, प्रेमीजीके लेखानुसार, छोटी पहाड़ी का वाचक कनड़ी भाषाका शब्द है और 'गेरि' उस भाषामें गली—मोहल्लेको

* बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाण-थेरे य खमण-संजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥ ३ ॥

कहते हैं; जब कि 'वट्ट' और 'वट्टक' जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रंथकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रंथभरमें तथा उसकी टीकामें वेट्टगेरि या बेट्टकेरि रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता। प्रत्युत इसके, ग्रंथदानकी जो प्रशस्ति मुद्रित प्रतिमें अंकित है उसमें 'श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः' इस वाक्यके द्वारा 'वट्टेरक' नामका उल्लेख है, जोकि ग्रंथकार-नामके उक्त तीनों रूपोंमेंसे एक रूप है और सार्थक है। इसके सिवाय, भाषा-साहित्य और रचना-शैली की दृष्टिसे भी यह ग्रंथ कुन्दकुन्दके ग्रंथोंके साथ मेल खाता है, इतना ही नहीं बल्कि कुन्दकुन्दके अनेक ग्रंथोंके वाक्य (गाथा तथा गाथांश) इस ग्रंथमें उसी तरहसे संप्रयुक्त पाये जाते हैं जिस तरह कि कुन्दकुन्दके अन्य ग्रंथोंमें परस्पर एक-दूसरे ग्रंथके वाक्योंका स्वतन्त्र प्रयोग देखनेमें आता है*। अतः जब तक किसी स्पष्ट प्रमाण-द्वारा इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें वट्टकेराचार्यका कोई स्वतन्त्र अथवा पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न हो जाए तब तक इस ग्रंथको कुन्दकुन्दकृत मानने और वट्टकेराचार्यको कुन्दकुन्दके लिये प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्यका पद स्वीकार करनेमें कोई खास बाधा मालूम नहीं होती। यह ग्रन्थ अति प्राचीन है; ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य यतिवृषभने, अपनी तिलोयपण्णत्तीमें, 'मूलाआरे इरिया एवं निउणं णिरूवेंति'' इस वाक्यके साथ प्रस्तुत ग्रन्थके कथनका स्पष्ट उल्लेख किया है। ग्रन्थकी यह प्राचीनता भी उसके कुन्दकुन्दकृत होने में एक सहायक है—बाधक नहीं है।

Religious Book Distribution Fund
C/o जि... महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
13 ... चाँदनी चौक, देहली-110006

* देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१ से २२४।

७

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता कुन्दकुन्द !

सब लोग यह जानते हैं कि प्रचलित 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक मोक्षशास्त्रके कर्ता 'उमास्वाति' आचार्य हैं, जिन्हें कुछ समयसे दिगम्बरपरम्परामें 'उमास्वामी' नाम भी दिया जाता है और जिनका दूसरा नाम 'गृध्रपिच्छाचार्य' है। इस भावका पोषक एक श्लोक भी जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचलित है और वह इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितं ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वातिमुनीश्वरं ॥

परंतु पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि जैनसमाज में ऐसे भी कुछ विद्वान हो गये है जो इस तत्त्वार्थसूत्रको कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ मानते थे। कुछ वर्ष हुए, तत्त्वार्थसूत्रकी एक श्वेताम्बरीय-टिप्पणी को देखते हुए, सबसे पहले मुझे इसका आभास मिला था और तब टिप्पणीकारके उस लिखने पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ था। टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वविषयमें 'दुर्वादापहार' नामसे कुछ पद्य देते हुए लिखा है :—

"परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मि सविवेकः ।
शुद्धो योऽस्य विधाता सदूषणीयो न केनापि ॥ ४
यः कुंदकुंदनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित् ।
ज्ञेयोऽन्यएव सोऽस्मात्स्पष्टमुमास्वातिरितिविदितात्

टिप्पणी—"एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगंबरो निन्हव इति केचिन्मावदन्नदः शिक्षार्थं परमेतावच्चतुरैरितिपद्यं ब्रूमहे शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावद्यः कोप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति । तर्हि कुंदकुंद एवैतत्प्रथम कर्त्तेति संशयापाहाय स्पष्टं ज्ञापयामः यः कुंदकुंदनामेत्यादि अयं च परतीर्थिकैः कुंदकुंद इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांतराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः ।"

इसमें अपने सम्प्रदाय-वालोंको दो बातोंकी शिक्षा की गई है—एक तो यह कि इस तत्त्वार्थसूत्रके विधाता वाचक उमास्वातिको कोई दिगम्बर अथवा निन्हव न कहने पाए, ऐसा चतुर पुरुषोंको यत्न करना चाहिये । दूसरे यह कि कुन्दकुन्द, इडाचार्य, पद्मनंदी, और उमास्वाति ये एक ही व्यक्तिके नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका असली अथवा आद्यकर्ता कुन्दकुन्दको बतलाते हैं वह ठीक नहीं, वह कुन्दकुन्द हमारे इस तत्त्वार्थसूत्रकर्ता प्रसिद्ध उमास्वातिसे भिन्न ही-व्यक्ति है ।

इस परसे मुझे यह खयाल हुआ था कि शायद पट्टावलि-वर्णित कुन्दकुन्दके नामोंको लेकर किसी दन्तकथाके आधार पर ही यह कल्पना की गई है । और इस लिये मैं उसी वक्तसे इस विषयकी खोजमें था कि दिगम्बर-साहित्यमें किसी जगह पर कुन्दकुन्दाचार्यको इस तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता लिखा है या नहीं । खोज करने पर बम्बईके ऐलक-पन्नालालसरस्वतीभवनसे 'अर्हत्सूत्रवृत्ति' नामका एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ, जो कि तत्त्वार्थसूत्रकी टीका है—'सिद्धान्त सूत्रवृत्ति' भी जिसका नाम है—और जिसे 'राजेन्द्रमौलि' नामके भट्टारकने रचा है । इसमें तत्त्वार्थसूत्रको स्पष्टतया कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति लिखा है; जैसा कि इसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"अथ अर्हत्सूत्रवृत्तिमारभे । तत्रादौ मंगलाद्यानि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथ्यंते । तदस्माकं विघ्नघाताय अस्मदाचार्यो भगवान् कुन्द-कुन्दमुनिः स्वेष्टदेवतागणोत्कर्षकीर्तनपूर्वकं तत्स्वरूपवस्तुनिर्देशात्मकं च शिष्टाचारविशिष्टेष्टजीववादं सिद्धान्तीकृत्य तद्गुणोप-

लब्धिफलोपयोग्यवन्दनानुकूलव्यापारगर्भमंगलमाचरति—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वनां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

एतद्गुणोपलक्षितं समवसृतावुपदिशंतं भगवंतमर्हदाख्यं केवलिनं तद्गुणानां नेतृत्व-भेतृत्व-ज्ञातृत्वादीनां सम्यगुपलब्धये वंदे नतोऽस्मि ॥ सूत्र ॥ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥" अत्र बहुवचनत्वात्समुदायार्थघातकत्वेन त्रयाणां समुदायो मोक्षमार्गः ।"

× × × ×

"इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सिद्धान्तसूत्रवृत्तौ दशमोऽध्ययायः॥१०॥

" मूलसंघबलात्कारगणे गच्छे गिरां शुभे ॥
राजेंद्रमौलि-भट्टार्कः सागत्य-पट्टराडिमां ।
व्यरचीत्कुंदकुंदार्यकृतसूत्रार्थदीपिकाम् ॥ "

जहाँ तक मैंने जैनसाहित्यका अन्वेषण किया है और तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओंको देखा है, यह पहला ही ग्रंथ है जिसमें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता 'उमास्वाति' या गृध्रपिच्छाचार्यको न लिख कर 'कुन्दकुन्द' मुनिको लिखा है। यह ग्रन्थ कब बना अथवा राजेंद्रमौलिका आस्तित्व समय क्या है, इसका अभी तक कुछ ठीक पता नहीं चल सका—इतना तो स्पष्ट है कि आप मूलसंघ-सरस्वतीगच्छके भट्टारक-तथा सागत्यपट्टके आधीश्वर थे। हाँ; उक्त श्वेताम्बर टिप्पणिकार रत्नसिंहके समयका विचार करते हुए, राजेंद्रमौलिभ०का समय संभवतः १४वीं शताब्दी या उससे कुछ पहले-पीछे जान पड़ता है। मालूम नहीं भट्टारकजीने किस आधार पर इस तत्त्वार्थसूत्रको कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति बतलाया है! उपलब्ध प्राचीन साहित्य परसे तो इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। हो सकता है कि पट्टावली (गुर्वावलि)-वर्णित कुन्दकुन्दके नामोंमें* गृद्धपिच्छका नाम देख कर और यह मालूम करके कि उमास्वातिका दूसरा नाम 'गृद्धपिच्छाचार्य' है, आपने कुन्दकुन्द

---

* ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती ॥
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनन्दीति तन्यते ॥ —नन्दिसंघगुर्वावली ।

और उमास्वाति दोनोंको एक ही व्यक्ति समझ लिया हो और इसीलिये तत्वार्थसूत्रके कर्तृत्वरूपसे कुन्दकुन्दाचार्यका नाम दे दिया हो। यदि ऐसा है, और इसीकी सबसे अधिक संभावना है, तो यह स्पष्ट भूल है। दोनोंका व्यक्तित्व एक नहीं था। उमास्वाति कुन्दकुन्दके वंशमें एक जुदे ही आचार्य हुए हैं, और वे ही गृध्रपंखोंकी पीछी रखने से गृध्रपिच्छ कहलाते थे। जैसा कि कुछ श्रवण-बेल्गोलके निम्न शिलालेखोंसे भी पाया जाता है :—

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द-
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिञ्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कौण्डकुन्दोदितचंडदंडः
अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन
सप्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगीकिलगृद्ध्रपक्षान्।
तदाप्रभृत्येव बुधायमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिञ्छं ॥

यहाँ शिलालेख नं० ४७ में कुन्दकुन्दका दूसरा नाम 'पद्मनंदी' दिया है और इसी का उल्लेख दूसरे शिलालेखों आदिमें भी पाया जाता है। बाकी पट्टावलियों (गुर्वावलियो) में जो गृद्धपिच्छ, एलाचार्य और वक्रग्रीव नाम अधिक दिये हैं उनका समर्थन अन्यत्र से नहीं होता। गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) की तरह एलाचार्य और वक्रग्रीव नामके भी दूसरे ही आचार्य हो गये हैं। और इस लिये पट्टावली की यह कल्पना बहुत कुछ संदिग्ध तथा आपत्ति के योग्य जान पड़ती है।

८

उमास्वाति या उमास्वामी ?

दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम आजकल आम तौरसे 'उमास्वामी' प्रचलित हो रहा है। जितने ग्रन्थ और लेख आम तौरसे प्रकाशित होते हैं और जिनमें किसी न किसी रूपसे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नामोल्लेख करनेकी जरूरत पड़ती है उन सबमें प्रायः उमास्वामी नामका ही उल्लेख किया जाता है; बल्कि कभी-कभी तो प्रकाशक अथवा सम्पादक जन 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' या 'उमास्वामि'का संशोधन तक कर डालते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके जितने संस्करण निकले हैं उन सबमें भी ग्रन्थकर्ताका नाम उमास्वामी ही प्रकट किया गया हैं। प्रत्युत इसके, श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ग्रन्थकर्ताका नाम पहलेसे ही 'उमास्वाति' चला आता है और वही इस समय प्रसिद्ध है। अब देखना यह है कि उक्त ग्रन्थकर्ताका नाम वास्तबमें उमास्वाति था या उमास्वामी और उसकी उपलब्धि कहाँसे होती है। खोज करनेसे इस बिषयमें दिगम्बर साहित्यसे जो कुछ मालूम हुआ है उसे पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट किया जाता है—

(१) श्रवणबेलगोलके जितने शिलालेखोंमें आचार्यमहोदयका नाम आया है उन सबमें आपका नाम 'उमास्वाति' ही दिया है। 'उमास्वामी' नामका उल्लेख किसी शिलालेखमें नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिये कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः ।

—शिलालेख नं० ४७

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।

—शि० नं० १०५

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥

—शि० नं० १०८

इन शिलालेखोंमें पहला शिलालेख शक संवत् १०३७ का, दूसरा १३२० का और तीसरा १३५५ का लिखा हुआ है। ४७वें शिलालेखवाला वाक्य ४०, ४२, ४३ और ५० नम्बरके शिलालेखोंमें भी पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि आजसे आठसौ वर्षसे भी पहलेसे दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम 'उमास्वाति' प्रचलित था और वह उसके बाद भी कई सौ वर्ष तक बराबर प्रचलित रहा है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था। विद्यानन्द स्वामीने भी, अपने 'श्लोकवार्तिक' में, इस पिछले नामका उल्लेख किया है।

(२) 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' की ८ वीं जिल्दमें प्रकाशित 'नगर' ताल्लुके ४६ वें शिलालेखमें भी 'उमास्वाति' नाम दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देहं गुणमन्दिरम् ॥

(३) नन्दिसङ्घकी 'गुर्वावली' में भी तत्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम 'उमास्वाति' दिया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मतिः ।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान्॥ ।

जैनसिद्धान्तभास्करकी ४थी किरणमें प्रकाशित श्रीशुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावलीमें भी यही नाम है और यही वाक्य दिया है और ये शुभचन्द्राचार्य विक्रम की १६ वीं और १७ वीं शताब्दीमें हो गये हैं।

॥ देखो जैनहितैषी भाग ६ अङ्क ७-८ ।

(४) नन्दिसङ्घकी 'पट्टावली' में भी कुन्दकुन्दाचार्यके बाद छठे नम्बर पर 'उमास्वाति' नाम ही पाया जाता है।

(५) बालचन्द्र मुनिकी बनाई हुई तत्वार्थसूत्रकी कनडी टीका भी 'उमास्वाति' नामका ही समर्थन करती है और साथ ही उसमें 'गृध्रपिञ्छाचार्य' नाम भी दिया हुआ है। बालचन्द्र मुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं।

(६) विक्रमकी १६वीं शताब्दीसे पहले का ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया जिसमें तत्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम 'उमास्वामी' लिखा हो। हाँ, १६वीं शताब्दीके बने हुए श्रुतसागरसूरिके ग्रन्थोंमें इस नामका प्रयोग जरूर पाया जाता है। श्रुतसागरसूरिने अपनी श्रुतसागरी टीकामें जगह-जगह पर यही (उमास्वामी) नाम दिया है और 'औदार्यचिन्तामणि' नामके व्याकरण ग्रन्थमें 'श्रीमानुमाप्रभुरनन्तरपूज्यपादः' इस वाक्यमें आपने 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर और भी साफ तौरसे 'उमास्वामी' नामको सूचित किया है। जान पड़ता है कि 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागरसूरिका निर्देश किया हुआ है और उनके समय से ही यह हिन्दी भाषा आदिके ग्रन्थोंमें प्रचलित हुआ है। और अब इसका प्रचार इतना बढ़ गया कि कुछ विद्वानोंको उसके विषयमें बिलकुल ही विपर्यास हो गया है और वे यहाँतक लिखनेका साहस करने लगे हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम दिगम्बरोंके अनुसार 'उमास्वामी' और श्वेताम्बरोंके अनुसार 'उमास्वाति' है *।

(७) मेरी रायमें, जब तक कोई प्रबल प्राचीन प्रमाण इस बातका उपलब्ध न हो जाय कि १६ वीं शताब्दीसे पहले भी 'उमास्वामी' नाम प्रचलित था, तब तक यही मानना ठीक होगा कि आचार्य महोदयका असली नाम 'उमास्वाति' तथा इसका नाम 'गृद्ध्रपिच्छाचार्य' था और 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागर सूरिका निर्देश किया हुआ है। यदि किसी विद्वान महाशयके पास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण मौजूद हो तो उन्हें कृपाकर उसे प्रकट करना चाहिये।

---

* देखो, तत्वार्थसूत्रके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

६

तत्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर 'तत्त्वरत्नप्रदीपिका' नामकी एक कनडी टीका बालचन्द्र मुनिकी बनाई हुई है, जिसे 'तत्त्वार्थ-तात्पर्य-वृत्ति' भी कहते हैं। इस टीका※ की प्रस्तावनामें तत्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति जिस प्रकारसे बतलाई है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है :—"सौराष्ट्र देशके मध्य ऊर्जयन्तगिरिके निकट गिरिनगर (जूनागढ़?) नामके पत्तनमें आसन्न भव्य स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न, श्वेताम्बरभक्त ऐसा 'सिद्धय्य' नामका एक विद्वान् श्वेताम्बर मतके अनुकूल सकल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र बनाया और उसे एक पाटिये पर लिख छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्रीगृद्धपिच्छाचार्य 'उमास्वाति' नामके धारक मुनिवर वहाँ पर आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियेको देखकर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। जब वह (सिद्धय्य) विद्वान् बाहरसे अपने घर आया और उसने पाटिये पर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि, किस महानुभावने यह शब्द लिखा है। माताने उत्तर दिया कि एक महानुभाव निर्ग्रन्थाचार्यने यह बनाया है। इस पर वह गिरि और अरण्यको ढूँढता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्तिभावसे नम्रीभूत हो कर उक्त मुनि

※ यह टीका आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें देवनागरी अक्षरोंमें मौजूद है।

महाराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है ? (यहाँ प्रश्न और इसके बादका उत्तर-प्रत्युत्तर प्रायः सब वही है जो 'सर्वार्थसिद्धि' की प्रस्तावनामें श्रीपूज्यपादाचार्यने दिया है ।) मुनिराजने कहा 'मोक्ष' है। इस पर मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा गया जिसके उत्तररूपमें ही इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।

इस तरह एक श्वेताम्बर विद्वान्के प्रश्नपर एक दिगम्बर आचार्यद्वारा इस तत्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति हुई है, ऐसा उक्त कथनसे पाया जाता है। नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिकी यह कथा कहाँ तक ठीक है। पर इतना जरूर है कि यह कथा सातसौ वर्षसे भी अधिक पुरानी है; क्योंकि उक्त टीकाके कर्ता बालचंद्र मुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हो गये हैं। उनके गुरु 'नयकीर्ति' का देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हुआ था *।

मालूम नहीं कि इस कनड़ी टीकासे पहलेके और किस ग्रन्थमें यह कथा पाई जाती है। तत्त्वार्थसूत्रकी जितनी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उनमें सबसे पुरानी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है। परन्तु उसमें यह कथा नहीं है। उसकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना पाया जाता है कि किसी विद्वान्के प्रश्नपर इस मूल ग्रन्थ (तत्वार्थसूत्र) का अवतार हुआ है। वह विद्वान् कौन था, किस सम्प्रदायका था, कहांका रहनेवाला था और उसे किस प्रकारसे ग्रन्थकर्ता आचार्यमहोदयका परिचय तथा समागम प्राप्त हुआ था, इन सब बातोंके विषयमें उक्त टीका मौन है। यथा—

"कश्चिद्भव्यः† प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छतिस्म, भगवन् ! किंखलु आत्मनो

* देखो श्रवणबेलगोलस्थ शिलालेख नं० ४२।

† इस पदकी वृत्तिमें प्रभाचन्द्रचार्यने प्रश्नकर्ता भव्यपुरुषका नाम दिया है जो पाठकी अशुद्धिसे कुछ गलतसा हो रहा है, और प्रायः 'सिद्धय्य' ही जान पड़ता है।

हितं स्यादिति । स आह मोक्ष इति । स एव पुनः प्रत्याह किं स्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति । आचार्य आह...... ।"

संभव है कि इस मूलको* लेकर ही किसी दन्तकथाके आधार पर उक्त कथाकी रचना की गई हो; क्योंकि यहां प्रश्नकर्ता और आचार्य महोदयके जो विशेषण दिये गये हैं प्रायः वे सब कनड़ी टीकामें भी पाये जाते हैं। साथ ही प्रश्नोत्तरका ढंग भी दोनोंका एक सा ही है। और यह सम्भव है कि जो बात सर्वार्थसिद्धिमें संकेत रूपसे ही दी गई है वह बालचन्द्र मुनिको गुरु परम्परासे कुछ विस्तारके साथ मालूम हो और उन्होंने उसे लिपिबद्ध कर दिया हो; अथवा किसी दूसरे ही ग्रन्थसे उन्हें यह सब विशेष हाल मालूम हुआ हो। कुछ भी हो, बात नई है जो अभी तक बहुतोंके जाननेमें न आई होगी और इससे तत्वार्थसूत्र-का समन्वय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके साथ स्थापित होता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उस समय दोनों सम्प्रदायोंमें आज कल-जैसी खींचातानी नहीं थी और न एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखता था।

* श्रुतसागरी टीकामें भी इसी मूलका प्रायः अनुसरण किया गया है और इसे सामने रखकर ही ग्रन्थकी उत्थानिका लिखी गई है। साथ ही, इतना विशेष है कि उसमें प्रश्नकर्ता विद्वानका नाम 'द्वैपायक' अधिक दिया है। कनड़ी टीका-वाली और बातें कुछ नहीं दीं। यह टीका कनड़ी टीकासे कई सौ वर्ष बाद की बनी हुई है।

१०

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति

अर्सा कई सालका हुआ सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने बम्बईसे तत्वार्थाधिगमसूत्रकी एक पुरानी हस्तलिखित सटिप्पण प्रति, सेठ राजमलजी बड़जात्याके यहाँसे लेकर मेरे पास देखनेके लिये भेजी थी। देखकर मैंने उसी समय उस परसे आवश्यक नोट्स (Notes) ले लिये थे, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। यह सटिप्पण प्रति श्वेताम्बरीय तत्वार्थाधिगमसूत्रकी है और जहाँ तक मैं समझता हूँ अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। श्वेताम्बर जैन कॉन्फ्रेंस द्वारा अनेक भण्डारों और उनकी सूचियों आदि परसे खोजकर तय्यार की गई 'जैनग्रन्थावली' में इसका नाम तक भी नहीं है और न हालमें प्रकाशित तत्वार्थसूत्रकी पं० सुखलालजी कृत विवेचनकी विस्तृत प्रस्तावना (परिचयादि) में ही, जिसमें उपलब्ध टीका-टिप्पणोंका परिचय भी कराया गया है, इसका कोई उल्लेख है और इसलिये इस टिप्पणीकी-प्रतियाँ बहुत कुछ विरलसी ही जान पड़ती हैं। अस्तु; इस सटिप्पण प्रतिका परिचय प्रकट होनेसे अनेक बातें प्रकाशमें आएँगी, अतः आज उसे पाठकोंके सामसे रक्खा जाता है।

(१) यह प्रति मध्यमाकारके ८ पत्रों पर है, जिनपर पत्राङ्क ११ से १८ तक पड़े हैं। मूल मध्यमें और टिप्पणी हाशियों (Margins) पर लिखी हुई है।

(२) बंगाल-एशियाटिक-सोसाइटी कलकत्ताके द्वारा सं० १९५९ में प्रका-

शित सभाष्य-तत्वार्थाधिगमसूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ दी हैं और अन्तमें ३२ पद्य तथा प्रशस्तिरूपसे ६ पद्य और दिये हैं वे सब कारिकाएँ एवं पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पणकारने उन्हें मूल तत्वार्थसूत्रके ही अंग समझा है।

(३) इस प्रतिमें सम्पूर्ण सूत्रोंकी संख्या ३४६ और प्रत्येक अध्यायके सूत्रों की संख्या क्रमशः ३५, ५३, १६, ५४, ४५, २७, ३३, २६, ४६, ८ दी है। अर्थात् दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और दसवें अध्यायमें सभाष्य तत्वार्थाधिगमसूत्रकी उक्त सोसाइटीवाले संस्करणकी छपी हुई प्रतिसे एक-एक सूत्र बढ़ा हुआ है; और वे सब बढ़े हुए सूत्र अपने-अपने नम्बर-सहित क्रमशः इस प्रकार हैः—

तैजसमपि ५०, घर्मा वंशा शैलांजनारिष्टा माघव्या माघवीति च २, उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः २३, स द्विविधः ४२, सम्यक्त्वं च २१; धर्मास्तिकायाभावात् ७।

और सातवें अध्यायमें एक सूत्र कम है—अर्थात् **'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१'** यह सूत्र नहीं है।

सूत्रोंकी इस वृद्धि-हानिके कारण अपने-अपने अध्यायमें अगले-अगले सूत्रोंके नम्बर बदल गये हैं। उदाहरणके तौर पर दूसरे अध्यायमें ५० वें नम्बरपर **'तैजसमपि'** सूत्र आजानेके कारण ५० वें **'शुभं विशुद्ध०'** सूत्रका नम्बर ५१ हो गया है, और ७वें अध्यायमें ३१वाँ 'सचित्तनिक्षेपापिधान०' सूत्र न रहनेके कारण उस नम्बर पर **'जीवितमरणा०'** नामका ३२ वाँ सूत्र आगया है।

दूसरी प्रतियोंमें बढ़े हुए सूत्रोंकी बावत जो यह कहा जाता है कि वे भाष्यके वाक्योंको ही ग़लतीसे सूत्र समझ लेनेके कारण सूत्रोंमें दाखिल होगये हैं, वह यहाँ **'सम्यक्त्वं च'** सूत्रकी बाबत संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि पूर्वोत्तरवर्ती सूत्रोंके भाष्यमें इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है और यह सूत्र दिगम्बरसूत्र-पाठमें २१वें नम्बर पर ही पाया जाता है। पं० सुखलालजी भी अपने तत्वार्थसूत्र-विवेचनमें इस सूत्रका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि श्वेताम्बरीय परम्पराके अनुसार भाष्यमें यह बात (सम्यक्त्वको देवायुके आस्रवका कारण बतलाना) नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें बहुत कुछ

विवादापन्न है, और उसकी यह विवादापन्नता टिप्पणमें सातवें अध्यायके उक्त ३१वें सूत्रके न होनेसे और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि इस सूत्र पर भाष्य भी दिया हुआ है, जिसका टिप्पणकारके सामनेवाली उस भाष्यप्रतिमें होना नहीं पाया जाता जिसपर वे विश्वास करते थे, और यदि किसी प्रतिमें होगा भी तो उसे उन्होंने प्रक्षिप्त समझा होगा। अन्यथा यह नहीं हो सकता कि जो टिप्पणकार भाष्यको मूल-चूल-सहित तत्त्वार्थसूत्रका त्राता (रक्षक) मानता हो वह भाष्यतकके साथमें विद्यमान होते हुए उसके किसी सूत्रको छोड़ देवे।

(४) बढ़े हुए कतिपय सूत्रोंके सम्बन्धमें टिप्पणीके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

(क) "केचित्त्वाहारकनिर्देशात्पूर्वं "तैजसमपि" इति पाठं मन्यंते, नैवं युक्तं तथासत्याहारकं न लब्धिजमिति भ्रमः समुत्पद्यते, आहारकस्य तु लब्धिरेव योनिः।"

(ख) "केचित्तुघर्मा वंशेत्यादिसूत्रं न मन्यंते तदसत्। 'घम्मा वंसा सेला अंजनरिट्ठा मघा य माघवई, नामेहिं पुढवीओ छत्ताइछत्तसंठाणा' इत्यागमात्।"

(ग) "केचिज्जडाः 'स द्विविधः' इत्यादिसूत्राणि न मन्यंते।"

ये तीनों वाक्य प्रायः दिगम्बर आचार्योंको लक्ष्य करके कहे गये हैं। पहले वाक्यमें कहा है कि 'कुछ लोग आहारकके निर्देशात्मक सूत्रसे पूर्व ही "तैजसमपि" यह सूत्र पाठ मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर आहारक शरीर लब्धिजन्य नहीं ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, आहारककी तो लब्धि ही योनि है।' दूसरे वाक्यमें बतलाया है कि 'कुछ लोग 'धर्मा वंशा' इत्यादि सूत्रको जो नहीं मानते हैं वह ठीक नहीं है।' साथ ही, ठीक न होनेके हेतुरूपमें नरकभूमियोंके दूसरे नामोंवाली एक गाथा देकर लिखा है कि 'चूंकि आगममें नरकभूमियोंके नाम तथा संस्थानके उल्लेखवाला यह वाक्य पाया जाता है, इसलिये इन नामोंवाले सूत्रको न मानना अयुक्त है।' परन्तु यह नहीं बतलाया कि जब सूत्रकारने 'रत्नप्रभा' आदि नामोंके द्वारा सप्त नरकभूमियोंका उल्लेख पहले ही सूत्रमें कर दिया है तब उनके लिये यह कहाँ लाजिमी आता है कि वे उन नरकभूमियोंके दूसरे नामोंका भी उल्लेख एक दूसरे सूत्र-द्वारा करें।

इससे टिप्पणकारका यह हेतु कुछ विचित्रसा ही जान पड़ता है। दूसरे प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्योंने भी उक्त 'धर्मविंशा' नामक सूत्रको नहीं माना है, और इसलिये यह वाक्य कुछ उन्हें भी लक्ष्य करके कहा गया है। तीसरे वाक्यमें उन आचार्योंको 'जडबुद्धि' ठहराया है जो "स द्विविधः" इत्यादि सूत्रोंको नहीं मानते हैं !! यहां 'आदि' शब्दका अभिप्राय 'अनादिरादिमांश्च,' 'रूपिष्वादिमान्,' 'योगोपयोगौ जीवेषु' इन तीन सूत्रोंसे है जिन्हें 'स द्विविधः' सूत्र-सहित दिगम्बराचार्य सूत्रकारकी कृति नहीं मानते हैं। परन्तु इन चार सूत्रोंमेंसे 'स द्विविधः' सूत्रको तो दूसरे श्वेताम्बराचार्योंने भी नहीं माना है। और इसलिये अकस्मात्में 'जडाः' पदका वे भी निशाना बन गये हैं ! उन पर भी जडबुद्धि होनेका आरोप लगा दिया गया है !!

इससे श्वेताम्बरोंमें भाष्य-मान्य-सूत्रपाठका विषय और भी अधिक विवादापन्न हो जाता है और यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उसका पूर्ण एवं यथार्थ रूप क्या है। जब कि सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठके विषयमें दिगम्बराचार्योंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। यदि दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वार्थसिद्धिसे पहले भाष्यमान्य अथवा कोई दूसरा सूत्रपाठ रूढ हुआ होता और सर्वार्थसिद्धिकार (श्रीपूज्यपादाचार्य) ने उसमें कुछ उलटफेर किया होता तो यह सम्भव नहीं था कि दिगम्बर आचार्योंमें सूत्रपाठके सम्बन्धमें परस्पर कोई मतभेद न होता। श्वेताम्बरोंमें भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें मतभेदका होना बहुधा भाष्यसे पहले किसी दूसरे सूत्रपाठके अस्तित्व अथवा प्रचलित होने को सूचित करता है।

(५) दसवें अध्यायके एक दिगम्बर सूत्रके सम्बन्धमें टिप्पणकारने इस प्रकार लिखा है—

"केचित्तु 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' इति नव्यं सूत्रं प्रक्षिपन्ति तन्न सूत्रकारकृतिः, 'कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते' इत्यादिश्लोकैः सिद्धस्य गतिस्वरूपं प्रोक्तमेव, ततः पाठान्तरमपार्थं।"

अर्थात्—कुछ लोग 'आविद्धकुलालचक्र' नामका नया सूत्र प्रक्षिप्त करते हैं, वह सूत्रकारकी कृति नहीं है। क्योंकि 'कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथे-

ध्यते' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा सिद्धगतिका स्वरूप कहा ही है, इसलिये उक्त सूत्र-रूपसे पाठान्तर निरर्थक है।

यहाँ 'कुलालचक्रे' इत्यादिरूपसे जिन श्लोकोंका सूचन किया है वे उक्त सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रके अन्तमें लगे हुए ३२ श्लकोंमेंसे १०, ११, १२, १४ नम्बरके श्लोक हैं, जिनका विषय वही है जो उक्त सूत्रका—उक्त सूत्रमें वर्णित चार उदाहरणोंको अलग-अलग चार श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है। ऐसी हालत-में उक्त सूत्रके सूत्रकारकी कृति होनेमें क्या बाधा आती है उसे यहाँ पर कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि किसी बातको श्लोकमें कह देने मात्रसे ही उस आशयका सूत्र निरर्थक हो जाता है और वह सूत्रकारकी कृति नहीं रहता, तो फिर २२वें श्लोकमें 'धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परः' इस पाठ के मौजूद होते हुए टिप्पणकारने "धर्मास्तिकायाभावात्" यह सूत्र क्यों माना ?—उसे सूत्रकारकी कृति होनेसे इनकार करते हुए निरर्थक क्यों नहीं कहा ? यह प्रश्न पैदा होता है, जिसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं बन सकता। इस तरह तो दसवें अध्यायके प्रथम छह सूत्र भी निरर्थक ही ठहरते हैं; क्योंकि उनका सब विषय उक्त ३२ श्लोकोंके प्रारम्भके ६ श्लोकोंमें आगया है—उन्हें भी सूत्रकारकी कृति न कहना चाहिये था। अतः टिप्पणकारका उक्त तर्क निःसार है—उससे उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त दिगम्बर सूत्रपर कोई आपत्ति नहीं आ सकती। प्रत्युत इसके, उसका सूत्रपाठ उसी के हाथों बहुत कुछ आपत्तिका विषय बन जाता है।

(६) इस सटिप्पण प्रतिके कुछ सूत्रोंमें थोड़ासा पाठ-भेद भी उपलब्ध होता है—जैसे कि तृतीय अध्यायके १०वें सूत्रके शुरूमें 'तत्र' शब्द नहीं है वह दिग-म्बर सूत्रपाठकी तरह 'भरतहैमवतहरिविदेह' से ही प्रारम्भ होता है। और छठे अध्यायके छठे (दि० ५वें सूत्रका प्रारम्भ) 'इन्द्रियकषायव्रतक्रियाः' पदसे किया गया है, जैसे कि दिगम्बर सूत्रपाठमें पाया जाता है और सिद्धसेन तथा हरिभद्रकी कृतियोंमें भी जिसे भाष्यमान्य सूत्रपाठके रूपमें माना गया है; परन्तु बंगाल एशयाटिक सोसाइटीके उक्त संस्करणमें उसके स्थानपर 'अव्रतकषाये-न्द्रियक्रियाः' पाठ दिया हुआ है और पं०सुखलालजीने भी अपने अनुवादमें उसी को स्वीकार किया है, जिसका कारण इस सूत्रके भाष्यमें 'अव्रत' पाठका प्रथम

होना जान पड़ता है और इसलिये जो बादमें भाष्यके व्याख्याक्रमानुसार सूत्रके सुधारको सूचित करता है।

(७) दिगम्बर सम्प्रदायमें जो सूत्र श्वेताम्बरीय मान्यताकी अपेक्षा कमती-बढ़ती रूपमें माने जाते हैं अथवा माने ही नहीं जाते उनका उल्लेख करते हुए टिप्पणमें कहीं-कहीं अपशब्दोंका प्रयोग भी किया गया है। अर्थात् प्राचीन दिगम्बराचार्योंको 'पाखंडी' तथा 'जडबुद्धि' तक कहा गया है। यथा—

ननु-ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेषु नेंद्रोत्पत्तिरिति परवादिमतमेतावतैव सत्याभिमतमिति कश्चिन्मा ब्रूयात्किल पाखंडिनः स्वकपोलकल्पितबुद्ध्यैव षोडश कल्पान्प्राहुः, नोचेद्दशाष्टपंचषोडशविकल्पा इत्येव स्पष्टं सूत्रकारोऽसूत्रयिष्यद्यथाखंडनीयो निन्हवः।"

"केचिज्जडाः 'प्रहाणामेकं' इत्यादि मूलसूत्राण्यपि न मन्यन्ते चन्द्रार्कादीनां मिथः स्थितिभेदोस्तीत्यपि न पश्यन्ति।"

इससे भी अधिक अपशब्दोंका जो प्रयोग किया गया है उसका परिचय पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा।

(८) दसवें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका (अन्तिम सन्धि) दी है वह इस प्रकार है—

"इति तत्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रचनसंग्रहे मोक्षप्ररूपणाध्यायो दशमः। ग्रं०२२५ पर्यंतमादितः। समाप्तं चैतदुमास्वातिवाचकस्य प्रकरणपंचशती कर्तुः कृतिस्तत्त्वार्थाधिगमप्रकरणं॥"

इसमें मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी आद्यन्तकारिकाओं सहित ग्रंथसंख्या २२५ श्लोकपरिमाण दी है और उसके रचयिता उमास्वातिको श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार पाँचसौ प्रकरणोंका अथवा 'प्रकरणपंचशती' का कर्ता सूचित किया है, जिनमें से अथवा जिसका एक प्रकरण यह 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है।

(९) उक्त पुष्पिकाके अनन्तर ६ पद्य दिये हैं, जो टिप्पणकारकी खुदकी कृति हैं। उनमेंसे प्रथम सात पद्य दुर्वादापहारके रूपमें हैं और शेष दो पद्य अंतिम मंगल तथा टिप्पणकारके नामसूचनको लिये हुए हैं। इन पिछले पद्योंके प्रत्येक चरणके दूसरे अक्षरको क्रमशः मिलाकर रखनेसे "रत्नसिंहो जिनं वंदे", ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है, और इसीको टिप्पणमें "इत्यन्तिमगाथाद्वयरहस्यं"

पदके द्वारा पिछले दोनों गाथा-पद्योंका रहस्य सूचित किया है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

सुरनरनिकरनिषेव्यो । नूत्नपयोदप्रभारुचिरदेहः ।
धीसिंधुर्जिनराजो । महोदयं दिशति न कियद्भ्यः ॥८॥
वृजिनोपतापहारी । सनंदिमच्चिचकोरचंद्रात्मा ।
भावं भविनां तन्वन्मुदे न संजायते केषां ॥९॥*

इससे स्पष्ट है कि यह टिप्पण 'रत्नसिंह' नामके किसी श्वेताम्बराचार्यका बनाया हुआ है। श्वेताम्बरसम्प्रदायमें 'रत्नसिंह' नामके अनेक सूरि-आचार्य हो गये हैं, परन्तु उनमेंसे इस टिप्पणके रचयिता कौन हैं, इसका ठीक पता मालूम नहीं हो सका; क्योंकि 'जैनग्रंथावली' और 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' जैसे ग्रंथोंमें किसी भी रत्नसिंहके नामके साथ इस टिप्पण ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं है। और इसके लिये इनके समय-सम्बन्धमें यद्यपि अभी निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ये विक्रमकी १२ वीं-१३ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रके बाद हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अपने एक टिप्पणमें हेमचन्द्रके कोषका प्रमाण 'इति हैमः' वाक्यके साथ दिया है। साथ ही, यह भी स्पष्ट ही है कि इनमें साम्प्रदायिक-कट्टरता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह सभ्यता तथा शिष्टताको भी उल्लंघ गई थी, जिसका कुछ अनुभव पाठकोंको अगले परिचयसे प्राप्त हो सकेगा।

(१०) उक्त दोनों पद्योंके पूर्वमें जो ७ पद्य दिये हैं और जिनके अन्तमें "इति दुर्वादापहारः" लिखा है उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी है। यहाँ उनका क्रमशः टिप्पणी-सहित कुछ परिचय कराया जाता है:—

प्रागेवैतददक्षिणभषणगणादास्यमानमिव मत्वा ।
त्रातं समूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥१॥

टिप्प०—"दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः† अदक्षिणा असरलाः

---

* इन दोनों पद्योंके अन्तमें "श्रेयोऽस्तु" ऐसा आशीर्वाक्य दिया हुआ है।

† "दक्षिणे सरलोदारौ" यह पाठ अमरकोशका है, उसे 'इति हैमः' लिखकर हेमचन्द्राचार्यके कोषका प्रकट करना टिप्पणकारकी विचित्र नीतिको सूचित करता है।

स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमानं स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोस्माकं लेखकानां निर्मलग्रंथरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति ।"

भावार्थ—जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहों-द्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर--यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान् लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल-सहित रक्षा की है--इसे ज्योंका त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूप में ही क़ायम रक्खा है--वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नहीं*) चिरंजीव होवे--चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है ।

पूर्वाचार्यकृतेरपि कविचौरः किंचिदात्मसात्कृत्वा ।
व्याख्यानयति नवीनं न तत्समः कश्चिदपि पिशुनः ॥२॥

टिप्प०—"अथ ये केचन दुरात्मानः सूत्रवचनचौराः स्वमनीषया

* क्योंकि टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है; जबकि मूलसूत्रकारका नाम उमास्वाति कई स्थानों पर स्पष्टरूपसे दिया है, इससे साफ़ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था । भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरक्षकाय' विशेषणके साथ 'प्राग्वचनचौरिकायामशक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है । इसके 'प्राग्वचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मनःपरिणतिके कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है । अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई जरूरत नहीं थी और न कोई संगति ही ठीक बैठती है ।

यथास्थानं यथेप्सितपाठप्रक्षेपं प्रदर्श्य स्वपरहितापगमं कथंचित् कुर्वन्ति तद्वाक्य-शुश्रूषापरिहारायेदमुच्यते—पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि । ततः परं वादविह्वलानां सद्वक्तृवचोऽप्यमन्यमानानां वाक्यात्संशयेभ्यः सुज्ञेभ्यो निरीहतया सिद्धांतेतरशास्त्रसमयापनोदकमेवं ब्रूमः ।"

भावार्थ—सूत्रवचनोंको चुरानेवाले जो कोई दुरात्मा अपनी बुद्धिसे यथा-स्थान यथेच्छ पाठप्रक्षेपको दिखलाकर कथंचित् अपने तथा दूसरोंके हितका लोप करते हैं उनके वाक्योंके सुननेका निषेध करनेके लिये 'पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि' पद्य कहा जाता है, जिसका आशय यह है कि 'जो कविचोर पूर्वाचार्यकी कृतिमेंसे कुछ भी अपनाकर (चुराकर) उसे नवीनरूपमें व्याख्यान करता है—नवीन प्रगट करता है—उसके समान दूसरा कोई भी नीच अथवा धूर्त नहीं है।'

इसके बाद जो सुधीजन वाद-विह्वलों तथा सद्वक्ताके वचनको भी न मानने-वालोंके कथनसे संशयमें पड़े हुए हैं उन्हें लक्ष्य करके सिद्धान्तसे भिन्न शास्त्र-समयको दूर करनेके लिये कहते हैं—

सुज्ञाः शृणुत निरीहाश्चेदाहो परगृहीतमेवेदं ।
सति जिनसमयसमुद्रे तदेकदेशेन किमनेन ॥३॥

टिप्प०—"शृणुत भोः कतिचिद्विज्ञाश्चेदाहो यद्युतेदं तत्त्वार्थप्रकरणं परगृहीतं परोपात्तं परनिर्मितमेवेति यावदिति भवंतः संशेरते किं जात-मेतावता वयं त्वस्मिन्नेव कृतादरा न वर्तामहे लघीयः सरसीव, यस्माद्द्यापि जिनेन्द्रोक्तांगोपांगाद्यागमसमुद्रा गर्जंतीति हेतोः तदेक-देशेनानेन किं ? न किंचिदित्यर्थः । ईदृशानि भूयांस्येव प्रकरणानि संति केषु केषु रिरंसां करिष्याम इति ।"

भावार्थ—भोः कतिपय विद्वानों ! सुनो, यद्यपि यह तत्त्वार्थप्रकरण परगृहीत है—दूसरोंके द्वारा अपनाया गया है—परनिर्मित ही है, यहाँ तक आप संशय करते हैं; परन्तु ऐसा होनेसे ही क्या होगया ? हम तो एकमात्र इसीमें आदररूप नहीं वर्त रहे हैं, छोटे तालाबकी तरह । क्योंकि आज भी जिनेन्द्रोक्त अंगोपांगादि आगमसमुद्र गर्ज रहे हैं, इस कारण उस समुद्रके एक देशरूप इस प्रकरणसे—उसके जाने रहनेसे—क्या नतीजा है ? कुछ भी नहीं । इस प्रकारके बहुतसे प्रकरण विद्यमान हैं, हम किन किनमें रमनेकी इच्छा करेंगे ?

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मि सविवेकः ।
शुद्धो योऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टिप्प०—"एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति केचिन्माव्रदन्नदः शिक्षार्थं 'परमेतावच्चतुरैरिति' पद्यं ब्रूमहे—शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावद्यः कोऽप्यस्य ग्रंथस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति ।"

भावार्थ—ऊपरकी बातको सुनकर 'वाचक उमास्वाति निश्चयसे दिगम्बर निह्नव है ऐसा कोई न कहे, इस बातकी शिक्षाके लिये हम 'परमेतावच्चतुरैः' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका यह आशय है कि 'चतुरजनोंको इतना कर्तव्य पालन जरूर करना चाहिये कि जिससे इस तत्त्वार्थशास्त्रका जो कोई शुद्ध विधाता—आद्यनिर्माता—है वह किसी प्रकारसे दूषणीय—निन्दनीय—न ठहरे ।

यः कुन्दकुन्दनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित् ।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्पष्टमुमास्वातिरिति विदितात् ॥५॥

टिप्प०—"तर्हि कुन्दकुन्द एवैतत्प्रथमकर्तेति संशयापोहाय स्पष्टं ज्ञापयामः 'यः कुन्दकुन्दनामेत्यादि' । अयं च परतीर्थिकैः कुन्दकुन्द इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांताराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः ।"

भावार्थ—'तब कुन्दकुन्द ही इस तत्त्वार्थशास्त्रके प्रथम कर्ता हैं,' इस संशयको दूर करनेके लिये हम 'यः कुन्दनामेत्यादि' पद्यके द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि—पर तीर्थिकों (!)के द्वारा जो कुन्दकुन्दको कुन्दकुन्द, इडाचार्य (?) पद्मनन्दी उमास्वाति ❀ इत्यादि नामान्तरोंकी कल्पना करके उमास्वाति कहा जाता है

❀ जहाँ तक मुझे दिगम्बर जैनसाहित्यका परिचय है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम उमास्वाति है ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। कुन्दकुन्दके जो पाँच नाम कहे जाते हैं उनमें मूल नाम पद्मनन्दी तथा प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दको छोड़कर शेष तीन नाम एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छाचार्य

वह हमारे इस प्रकरणकर्ता से, जिसका स्पष्ट 'उमास्वाति' ही प्रसिद्ध नाम है, भिन्न ही है, इस बातको हम बार-बार क्या बतलावें।

श्वेतांबरसिंहानां सहजं राजाधिराजविद्यानां।
निह्नवनिर्मितशास्त्राग्रहः कथंकारमपि न स्यात् ॥ ६॥

टिप्प०—नन्वत्र कुतोऽलभ्यते यत्पाठांतरसूत्राणि दिगंबरैरेव प्रक्षिप्तानि ? परे तु वक्ष्यंति यदस्मद्वृद्धैरचितमेतत्प्राप्य सम्यगिति ज्ञात्वा श्वेतांबराः स्वैरं कतिचित्सूत्राणि तिरोकुर्वन् कतिचिच्च प्राक्षिपन्निति भ्रमभेदार्थं 'श्वेतांबरसिंहानामित्यादि' ब्रूमः। कोऽर्थः श्वेतांबरसिंहाः स्वयमत्यंतोद्दंडग्रंथग्रंथनप्रभूष्णवः परनिर्मितशास्त्रं तिरस्करण-प्रक्षेपादिभिर्न कदाचिदप्यात्मसाद्विदधीरन्। यतः 'तस्करा एव जायंते परवस्त्वात्मसात्कराः, निर्विशेषेण पश्यंति स्वमपि स्वं महाशयाः।'

भावार्थ—यहाँ पर यदि कोई कहे कि 'यह बात कैसे उपलब्ध होती है कि जो पाठांतरित सूत्र हैं वे दिगम्बरोंने ही प्रक्षिप्त किये हैं। क्योंकि दिगम्बर तो कहते हैं कि हमारे वृद्धों-द्वारारचित इस तत्त्वार्थसूत्रको पाकर और उसे समीचीन जानकर श्वेताम्बरोंने स्वेच्छाचारपूर्वक कुछ सूत्रोंको तो तिरस्कृत कर दिया और कुछ नये सूत्रोंको प्रक्षिप्त कर दिया—अपनी ओरसे मिला दिया है'। इस भ्रमको दूर करनेके लिये हम 'श्वेताम्बरसिंहानां' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि—श्वेताम्बरसिंहोंके, जो कि स्वभावसे ही विद्याओंके राजाधिराज हैं और स्वयं अत्यन्त उद्दंड ग्रन्थोंके रचनेमें समर्थ हैं, निह्नव-निर्मित-शास्त्रोंका ग्रहण किसी प्रकार भी नहीं होता है—वे परनिर्मित शास्त्रोंको तिरस्करण और प्रक्षेपादिके द्वारा कदाचित् भी अपने नहीं बनाते हैं। क्योंकि जो दूसरेकी वस्तुको अपनाते हैं—अपनी बनाते हैं—वे चोर होते है, महान् आशयके धारक तो अपने धनको भी निर्विशेषरूपसे अवलोकन करते हैं—उसमें अपनायतका (निजत्वका) भाव नहीं रखते।'

हैं। तथा कुन्दकुन्द और उमास्वातिकी भिन्नताके बहुत स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। अतः इस नामका दिया जाना भ्रान्तिमूलक है।

पाठांतरमुपजीव्य भ्रमंति केचिद्वृथैव संतोऽपि ।
सर्वेषामपि तेषामतः परं भ्रांतिविगमोऽस्तु ॥ ७ ॥

टिप्प०—अतः सर्वरहस्यकोविदा अमृतरसे कल्पनाविषपूरं न्यस्यमानं दूरतस्त्यक्त्वा जिनसमयार्णवानुसाररसिका उमास्वातिमपि स्वतीर्थिक इति स्मरंतोऽनंतसंसारपाशं पतिष्यद्भिर्विशदमपि कलुषीकर्तुकामैः सह निह्नवैः संगं माकुर्वन्निति ।

भावार्थ—कुछ संत पुरुष भी पाठान्तरका उपयोग करके—उसे व्यवहारमें लाकर—वृथा ही भ्रमते हैं, उन सबकी भ्रान्तिका इसके बादसे विनाश होवे ।

अतः जो सर्वरहस्यको जाननेवाले हैं और जिनागमसमुद्रके अनुसरण-रसिक हैं वे अमृतरसमें न्यस्यमान कल्पना-विषपूरको दूरसे ही त्याग कर, उमास्वातिको भी स्वतीर्थिक स्मरण करते हुए, अनन्त संसारके जालमें पड़नेवाले उन निह्नवोंके साथ संगति न करें—कोई सम्पर्क न रक्खें—जो विशदको भी कलुषित करना चाहते हैं ।

(११) उक्त ७ पद्यों और उनकी टिप्पणीमें टिप्पणकारने अपने साम्प्रदायिक कट्टरतासे परिपूर्ण हृदयका जो प्रदर्शन किया है—स्वसम्प्रदायके आचार्योंको 'सिंह' तथा 'विद्याओंके राजाधिराज' और दूसरे सम्प्रदायवालोंको 'कुत्ते' तथा 'दुरात्मा' बतलाया है, अपने दिगम्बर भाइयोंको 'परतीर्थिक' अर्थात् भ०महावीरके तीर्थको न माननेवाले अन्यमती लिखा है और साथ ही अपने श्वेताम्बर भाइयोंको यह आदेश दिया है कि वे दिगम्बरोंकी संगति न करें अर्थात् उनसे कोई प्रकारका सम्पर्क न रक्खें—उस सबकी आलोचनाका यहाँ कोई अवसर नहीं है, और न यह बतलाने की ही जरूरत है कि श्वेताम्बरसिंहोंने कौन कौन दिगम्बर ग्रंथोंका अपहरण किया है और किन किन ग्रंथोंको आदरके साथ ग्रहण करके अपने अपने ग्रन्थोंमें उनका उपयोग किया हैं, उल्लेख किया है और उन्हें प्रमाणमें उपस्थित किया है । जो लोग परीक्षात्मक, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक साहित्यको बराबर पढ़ते रहते हैं उनसे ये बातें छिपी नहीं हैं । हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि यह सब ऐसे कलुषितहृदय लेखकोंकी लेखनी अथवा साम्प्रदायिक कट्टरताके गहरे रंगमें रंगे हुए कषायाभिभूत साधुओंकी कर्तूतका ही परिणाम है—नतीजा है—जो अर्सेसे एक ही पिताकी संतानरूप भाइयों-भाइयोंमें—दिगम्बरों-श्वेताम्बरोंमें—परस्पर मनमुटाव चला जाता है और पारस्परिक कलह तथा विसंवाद शान्त होनेमें नहीं

आता ! दोनों एक दूसरेपर कीचड़ उछालते हैं और विवेकको प्राप्त नहीं होते !! वास्तवमें दोनों ही बहुधा अनेकान्तकी ओर पीठ दिये हुए हैं और उस समीचीन-दृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—को भुलाए हुए हैं जो जैनशासनकी जान तथा प्राण है और जिससे अवलोकन करनेपर विरोध ठहर नहीं सकता—मनमुटाव क़ायम नहीं रह सकता। यदि ऐसे लेखकोंको अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होती और वे जैन-नीतिका अनुसरण करते होते तो कदापि इस प्रकारके विषबीज न बोते। खेद है कि दोनों ही सम्प्रदायोंमें ऐसे विषबीज बोनेवाले तथा द्वेष-कषायकी अग्निको भड़कानेवाले होते रहे हैं, जिसका कटुक परिणाम आजकी सन्तानको भुगतना पड़ रहा है !! अतः वर्तमान वीरसन्तानको चाहिये कि वह इस प्रकारकी द्वेषमूलक तहरीरों—पुरानी अथवा आधुनिक लिखावटों—पर कोई ध्यान न देवे और न ऐसे जैननीतिविरुद्ध आदेशोंपर कोई अमल ही करे। उसे अनेकान्तदृष्टिको अपनाकर अपने हृदयको उदार तथा विशाल बनाना चाहिए, उसमें विवेकको जागृत करके साम्प्रदायिक मोहको दूर भगाना चाहिए और एक सम्प्रदायवालोंको दूसरे सम्प्रदायके साहित्यका प्रेमपूर्वक तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये, जिससे परस्परके गुण-दोष मालूम होकर सत्यके ग्रहणकी ओर प्रवृत्ति होसके, दृष्टिविवेककी उपलब्धि होसके और साम्प्रदायिक संस्कारोंके वश कोई भी एकांगी अथवा ऐकान्तिक निर्णय न किया जासके; फलतः हम एक दूसरेकी भूलों अथवा त्रुटियोंको प्रेमपूर्वक प्रकट कर सकें, और इस तरह परस्परके वैर-विरोधको समूल नाश करनेमें समर्थ होसकें। ऐसा करनेपर ही हम अपनेको वीरसंतान कहने और जैनशासनके अनुयायी बतलानेके अधिकारी हो सकेंगे। साथ ही, उस उपहासको मिटा सकेंगे जो अनेकान्तको अपना सिद्धान्त बनाकर उसके विरुद्ध आचरण करनेके कारण लोकमें हमारा हो रहा है।

११

श्वे० तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जाँच

जैनसमाजमें उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी कृतिरूपसे जिस तत्त्वार्थसूत्रकी प्रसिद्धि है उसके मुख्य दो पाठ पाये जाते हैं—एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सूत्रपाठको सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ बतलाया जाता है, जो दिगम्बरसमाजमें सर्वत्र एकरूपसे प्रचलित है; और श्वेताम्बर सूत्रपाठको भाष्य-मान्य सूत्रपाठ कहा जाता है, जो श्वेताम्बर समाजमें प्रायः करके प्रचलित है; परन्तु कहीं कहीं उसमें अच्छा उल्लेखनीय भेद भी पाया जाता है *। भाष्यकी बाबत श्वे० समाजका दावा है कि वह 'स्वोपज्ञ' है—स्वयं सूत्रकारका ही रचा हुआ है। साथ ही यह भी दावा है कि मूल सूत्र और उसका भाष्य ये दोनों बिलकुल श्वेताम्बरश्रुतके अनुकूल हैं—श्वेताम्बर आगमोंके आधार पर ही इनका निर्माण हुआ है, और इसलिये सूत्रकार उमास्वाति श्वेताम्बर-परम्पराके थे †।

* देखो, 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति' नामका लेख, (नं० १०) जो पहले अनेकान्त वर्ष ३ किरण १ (वीरशासनाङ्क) में प्रकाशित हुआ था, तथा पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थ-सूत्र-विवेचनकी प्रस्तावनाका पृष्ठ ८४-८५।

† श्वे० समाजके असाधारण विद्वान् पं० सुखलालजी अपने तत्त्वार्थसूत्रके लेखकीय वक्तव्यमें लिखते हैं:—"उमास्वाति श्वेताम्बर-परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र सचेलपक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।"

दावेकी ये दोनों बातें कहाँ तक ठीक हैं—मूलसूत्र, उसके भाष्य और श्वेताम्बरीय आगमों परसे इनका पूरी तौर पर समर्थन होता है या कि नहीं, इस विषयकी जाँचको पाठकोंके सामने उपस्थित करना ही इस लेखका मुख्य विषय है।

सूत्र और भाष्य-विरोध

सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्यकी कृति हों तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकारका विरोध न होना चाहिये। और यदि उनमें कहींपर ऐसी असंगति, भेद, अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं—उनका कर्ता भिन्न भिन्न है—और इसलिये सूत्रका वह भाष्य 'स्वोपज्ञ' नहीं कहला सकता। श्वेताम्बरोंके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यमें ऐसी असंगति भेद अथवा विरोध पाया जाता है; जैसा कि नीचेके कुछ नमूनोंसे प्रकट है:—

(१) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें प्रथम अध्यायका २३ वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

इसमें अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका नाम 'यथोक्तनिमित्तः' दिया है और भाष्य में '**यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः**' ऐसा लिखकर '**यथोक्तनिमित्त**' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है; परन्तु '**यथोक्त**' का अर्थ 'क्षयोपशम' किसी तरह भी नहीं बनता। 'यथोक्त' का सर्वसाधारण अर्थ होता है—'जैसा कि कहा गया', परन्तु पूर्ववर्ती किसी भी सूत्रमें 'क्षयोपशमनिमित्त' नामसे अवधि-ज्ञानके भेदका कोई उल्लेख नहीं है और न कहीं 'क्षयोपशम' शब्दका ही प्रयोग आया है, जिससे 'यथोक्त' के साथ उसकी अनुवृत्ति लगाई जा सकती। ऐसी हालतमें 'क्षयोपशमनिमित्त' के अर्थमें 'यथोक्तनिमित्त'का प्रयोग सूत्रसंदर्भके साथ असंगत जान पड़ता है। इसके सिवाय, '**द्विविधोऽवधिः**' इस २१वें सूत्रके भाष्यमें लिखा है—'भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च' और इसके द्वारा अवधि-ज्ञानके दो भेदोंके नाम क्रमशः 'भवप्रत्यय' और 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाये हैं। २२वें सूत्र '**भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्**' में अवधिज्ञानके प्रथम भेदका वर्णन जब भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ किया गया है तब २३वें सूत्रमें उसके द्वितीय भेदका वर्णन भी भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ होना चाहिये था और तब उस

सूत्रका रूप होता—"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्", जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः उक्त सूत्र और भाष्यकी असंगति स्पष्ट है और इसलिये यह कहना होगा कि या तो 'यथोक्त-निमित्तः' पदका प्रयोग ही ग़लत है और या इसका जो अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्तः' दिया है वह ग़लत है तथा २१वें सूत्रके भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्त' नामको न देकर उसके स्थानपर 'क्षयोपशमनिमित्त' नामका देना भी ग़लत है। दोनों ही प्रकारसे सूत्र और भाष्यकी पारस्परिक असंगतिमें कोई अन्तर मालूम नहीं होता।

(२) श्वे० सूत्रपाठके छठे अध्यायका छठा सूत्र है—

"इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।"

दिगम्बर सूत्रपाठमें इसीको नं० ५ पर दिया है। यह सूत्र श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रकी टीका और सिद्धसेनगणीकी टीकामें भी इसी प्रकारसे दिया हुआ है। श्वेताम्बरोंकी उस पुरानी सटिप्पण प्रतिमें भी इसका यही रूप है जिसका प्रथम परिचय अनेकान्तके तृतीय वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है। इस प्रामाणिक सूत्रपाठके अनुसार भाष्यमें पहले इन्द्रियका, तदनन्तर कषायका और फिर अव्रतका व्याख्यान होना चाहिये था; परन्तु ऐसा न होकर पहले 'अव्रत' का और अव्रतवाले तृतीय स्थानपर इन्द्रियका व्याख्यान पाया जाता है। यह भाष्यपद्धतिको देखते हुए सूत्रक्रमोल्लंघन नामकी एक असंगति है, जिसे सिद्ध-सेनगणीने अन्य प्रकारसे दूर करनेका प्रयत्न कियाहै, जैसा कि पं० सुखलालजी-के उक्त तत्त्वार्थसूत्रकी सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखनेवाली निम्न टिप्पणी (पृ०१३२)-से भी पाया जाता है :—

"सिद्धसेनको सूत्र और भाष्यकी यह असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करनेकी कोशिश भी की है।"

परन्तु जान पड़ता है पं० सुखलालजीको सिद्धसेनका वह प्रयत्न उचित नहीं जँचा, और इसलिये उन्होंने मूलसूत्रमें उस सुधारको इष्ट किया है जो उसे भाष्यके अनुरूप रूप देकर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पदसे प्रारम्भ होनेवाला बनाता है। इस तरह पर यद्यपि सूत्र और भाष्यकी उक्त असंगतिको कहीं कहीं

पर सुधारा गया है, परन्तु सुधारका यह कार्य बादकी कृति होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्र और भाष्यमें उक्त असंगति नहीं थी।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरीय आगमादि पुरातनग्रन्थोंमें भी साम्परायिक आस्रवके भेदोंका निर्देश इन्द्रिय, कषाय, अव्रत योग और क्रिया इस सूत्रनिर्दिष्ट क्रमसे पाया जाता है; जैसाकि उपाध्याय मुनि श्रीआत्मारामजी द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय'में उद्धृत स्थानांगसूत्र और नवतत्त्वप्रकरणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> "पंचिंदिया पण्णत्ता ··· चत्तारिकसाया पण्णत्ता ···· पंचअविरय पण्णत्ता···पंचवीसा किरिया पण्णत्ता··· ।"
>
> —स्थानांग स्थान २, उद्देश्य १ सू० ६० (?)

> "इंदियकसायअव्वयजोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा ।"
> किरियाओ पणवीसं इमाओ ताओ अणुकमसो ॥"
>
> —नवतत्त्वप्रकरण

इससे उक्त सुधार वैसे भी समुचित प्रतीत नहीं होता, वह आगमके विरुद्ध पड़ेगा। और इस तरह एक असंगतिसे बचनेके लिये दूसरी असंगतिको आमन्त्रित करना होगा।

(३) चौथे अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

> "इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्याऽऽत्मरक्ष-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः ।"

इस सूत्रमें पूर्वसूत्रके निर्देशानुसार देवनिकायोंमें देवोंके दश भेदोंका उल्लेख किया है। परन्तु भाष्यमें 'तद्यथा' शब्दके साथ उन भेदोंको जो गिनाया है उसमें दशके स्थानपर निम्न प्रकारसे ग्यारह भेद दे दिये हैं:—

> "तद्यथा, इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकाधिपतयः अनीकानि प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति ।"

इस भाष्यमें 'अनीकाधिपतयः' नामका जो भेद दिया है वह सूत्रसंगत नहीं है। इसीसे सिद्धसेनगणी भी लिखते हैं कि—

"सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरुपन्यस्ताः।"

अर्थात्—सूत्रमें तो आचार्यने अनीकोंका ही ग्रहण किया हैं, अनीकाधिपतियोंका नहीं। भाष्यमें उसका पुनः उपन्यास किया गया है।

इससे सूत्र और भाष्यका जो विरोध आता है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणीने इस विरोधका कुछ परिमार्जन करनेके लिये जो यह कल्पना की है कि 'भाष्यकारने अनीकों और अनीकाधिपतियोंके एकत्वका विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जान पड़ता है *', वह ठीक मालूम नहीं होती; क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियोंकी एकताका वैसा विचार यदि भाष्यकारके ध्यानमें होता तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियोंके लिये अलग अलग पदोंका प्रयोग करके संख्याभेदको उत्पन्न न करता। भाष्यमें तो दोनोंका स्वरूप भी फिर अलग अलग दिया गया है जो दोनोंकी भिन्नताका द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है; परन्तु दश भेदोंमें इन्द्रकी अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेन भी अपनी इस कल्पना पर दृढ मालूम नहीं होते, इसीसे उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—"अन्यथा वा दशसंख्या भिद्येत"—अथवा यदि ऐसा नहीं है तो दशकी संख्याका विरोध आता है।

(४) श्वे० सूत्रपाठके चौथे अध्यायका २६ वां सूत्र निम्न प्रकार है—

"सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च।"

इसमें लोकान्तिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट; ऐसे नव भेद बतलाये हैं, परन्तु भाष्यकारने पूर्व सूत्रके भाष्यमें और इस सूत्रके भाष्यमें भी लोकान्तिक देवोंके भेद आठ ही बतलाये हैं और उन्हें पूर्वादि आठ दिशा-विदिशाओंमें स्थित सूचित किया है; जैसाकि दोनों सूत्रोंके निम्न भाष्योंसे प्रकट है :—

"ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति। तद्यथा—"

---

* "तदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेव भाष्यकारेण।"

"एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम् ।"

इससे सूत्र और भाष्यका भेद स्पष्ट है। सिद्धसेनगणी और पं० सुखलाल-जीने भी इस भेदको स्वीकार किया है; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः।"

"इन दो सूत्रोंके मूलभाष्यमें लोकान्तिक देवोंके आठ ही भेद बतलाये हैं, नव नहीं।"

इस विषयमें सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पागये हैं कि लोकान्तमें रहने वालोंके ये आठ भेद जो भाष्यकार सूरिने अंगीकार किये है वे रिष्टविमानके प्रस्तारमें रहनेवालोंकी अपेक्षा नवभेदरूप हो जाते हैं, आगममें भी नव भेद कहे हैं, इससे कोई दोष नहीं* परन्तु मूल सूत्रमें जब स्वयं सूत्रकारने नव भेदोंका उल्लेख किया है तब अपने ही भाष्यमें उन्होंने नव भेदोंका उल्लेख न करके आठ भेदोंका ही उल्लेख क्यों किया है, इसकी वे कोई माकूल (युक्तियुक्त) वजह नहीं बतला सके। इसीसे शायद पं० सुखलालजीको उस प्रकारसे कहकर छुट्टी पा लेना उचित नहीं जँचा, और इस लिये उन्होंने भाष्यकी स्वोप-ज्ञतामें बाधा न पड़ने देनेके खयालसे यह कह दिया है कि—"यहाँ मूल सूत्रमें 'मरुतो' पाठ पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ है।" परन्तु इसके लिये वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीनसे प्राचीन श्वेताम्बरीय टीकामें 'मरुतो' पाठ स्वीकृत किया गया है तब उसे यों ही दिगम्बर पाठकी बातको लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

सूत्र तथा भाष्यके इन चार नमूनों और उनके उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं, और इसलिये श्वे० भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं कहा जा सकता।

---

*'उच्यते—लोकान्तवर्तिनः एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः, रिष्टविमानप्रस्तारव-र्तिभिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः। आगमे तु नवधैवाधीता इति।"

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थसूत्रपर श्वेताम्बरोंका एक पुराना टिप्पण है, जिसका परिचय अनेकान्तके वीरशासनाङ्क (वर्ष ३ कि० १ पृ० १२१–१२८) में प्रकाशित हो चुका है। इस टिप्पणके कर्ता रत्नसिंह सूरि बहुत ही कट्टर साम्प्रदायिक थे और उनके सामने भाष्य ही नहीं किन्तु सिद्धसेनकी भाष्यानुसारिणी टीका भी थी, जिन दोनोंका टिप्पणमें उपयोग किया गया है, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं बतलाया। टिप्पणके अन्तमें 'दुर्वादापहार' रूपसे जो सात पद्य दिये हैं उनमेंसे प्रथम पद्य और उसके टिप्पणमें, साम्प्रदायिक-कट्टरताका कुछ प्रदर्शन करते हुए उन्होंने भाष्यकारका जिन शब्दोंमें स्मरण किया है वे निम्न प्रकार हैं:—

"प्रागेवैतददक्षिण-भषण-गणादास्यमानमिति मत्वा।
त्रातं समूल-चूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात्॥ १॥

टिप्पण— 'दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः' अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमानं स्वायत्तीकरिष्यमानमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः। सहमूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद्द भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनं-चौरिकायामशक्यायेति।"

इन शब्दोंका भावार्थ यह है कि–'जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर—यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बताने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल* सहित-रक्षा की है—इसे ज्यों-का त्यों श्वेताम्बरसम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूपमें ही कायम रक्खा है—वह (अज्ञातनामा) भाष्यकार चिरंजीव होवे—चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मलग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।'

यहाँ भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'सकश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है, जब कि मूल सूत्रकारका नाम 'उमास्वाति' कई स्थानोंपर स्पष्ट रूपसे दिया है। इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूल सूत्रकारसे भिन्न समझता था, भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरचकाय' विशेषणके साथ 'प्रावचन-चौरिकायाम-शक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है। इसके 'प्रावचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है—जिसे प्रथम विशेषणमें 'निर्मलग्रन्थ' कहा गया है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मनःपरिणति-के कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई जरूरत नहीं थी— यह उनके लिये किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता। साथ ही, 'अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर' ऐसा जो कहा गया है उससे यह भी ध्वनित होता है कि भाष्यकी रचना उस समय हुई है जब कि तत्त्वार्थसूत्रपर 'सर्वार्थसिद्धि' आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर टीकाएँ बन चुकी थीं और उनके द्वारा दिगम्बर समाजमें तत्त्वार्थसूत्रका अच्छा प्रचार प्रारंभ हो गया था। इस प्रचारको देखकर ही किसी श्वेताम्बर विद्वानको भाष्यके रचनेकी प्रेरणा मिली है और उसके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर बनाने की चेष्टा की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी हालतमें भाष्यको स्वयं मूल सूत्रकार उमास्वातिकी कृति बतलाना और भी असंगत जान पड़ता है।

सूत्र और भाष्यका आगमसे विरोध

सूत्र और भाष्य दोनोंका निर्माण यदि श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर ही हुआ हो, जैसा कि दावा है, तो श्वे० आगमोंके साथ उनमेंसे किसीका ज़रा भी मतभेद, असंगतपन अथवा विरोध न होना चाहिये। यदि इनमेंसे किसीमें भी कहींपर ऐसा मतभेद,-असंगतपन अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना होगा

⊛ 'चूल' का अभिप्राय आदि अन्तकी कारिकाओंसे जान पड़ता है, जिन्हें साथमें लेकर और मूलसूत्रका अंग मानकर ही टिप्पण लिखा गया है।

कि उसके निर्माण का आधार पूर्णतः श्वेताम्बर आगम नहीं है, और इस लिये दावा मिथ्या है। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ और उसके भाष्यमें ऐसे अनेक स्थल हैं जो श्वे० आगमोंके साथ मतभेदादिको लिये हुए हैं। नीचे उनके कुछ नमूने प्रकट किये जाते हैं:—

(१) श्वेताम्बरीय आगममें मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं और उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, इस क्रमसे निर्देश किया है; जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनकी निम्न गाथाओंमे प्रकट है—

मोक्खमग्गगइं तच्च सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं नाणदंसणलक्खणं ॥१॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्तिपएणत्तो जिणेहिं वरदंसहिं ॥ २ ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ ३ ॥
नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥ ३५ ॥

परन्तु श्वेताम्बर-सूत्रपाठमें, दिगम्बर सूत्रपाठकी तरह, तीन कारणोंका दर्शन-ज्ञान-चारित्रके क्रममें निर्देश है; जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अतः यह सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ पूर्णतया संगत नहीं है। वस्तुतः यह दिगम्बरसूत्र है और इसके द्वारा मोक्षमार्गके कथनकी उस दिगम्बर शैलीको अपनाया गया है जो श्रीकुन्दकुन्दादिके ग्रंथोंमें सर्वत्र पाई जाती है।

(२) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठके प्रथम अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ऐसे सात तत्वोंका निर्देश है। भाष्यमें भी "जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि" इन वाक्योंके द्वारा निर्देश्य तत्त्वोंके नामके साथ उनकी संख्या सात बतलाई गई है, और तत्त्व तथा पदार्थको एक सूचित किया है। परन्तु श्वेताम्बर आगममें

तत्त्व अथवा पदार्थ नव बतलाए हैं, जैसा कि 'स्थानांग' आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है :—

"नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।" (स्थान ९ सू० ६६५)

सात तत्त्वोंके कथनकी शैली श्वेताम्बर आगमोंमें है ही नहीं, इसीसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने तत्त्वार्थसूत्रका श्वे० आगमके साथ जो समन्वय उपस्थित किया है उसमें वे स्थानांगके उक्त सूत्रको उद्धृत करनेके सिवाय आगमका कोई भी दूसरा वाक्य ऐसा नहीं बतला सके जिसमें सात तत्त्वोंकी कथनशैलीका स्पष्ट निर्देश पाया जाता हो। सात तत्त्वोंके कथनकी यह शैली दिगम्बर है—दिगम्बर सम्प्रदायमें साततत्त्वों और नव पदार्थोंका अलग अलग रूपसे निर्देश किया है*। दिगम्बर-सूत्रपाठमें यह सूत्र भी इसी रूपसे स्थित है। अतः इस चौथे सूत्रका आधार दिगम्बरश्रुत जान पड़ता है—श्वेताम्बरश्रुत नहीं।

(३) प्रथम अध्यायका आठवां सूत्र इस प्रकार है—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।

इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा विस्तारसे अधिगम होना बतलाया है; जैसा कि भाष्यके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"सत् संख्या क्षेत्रं स्पर्शनं कालः अन्तरं भावः अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां (तत्त्वानां) विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति।"

परन्तु श्वेताम्बर आगममें सत् आदि अनुयोगद्वारोंकी संख्या नव मानी है—'भाग' नामका एक अनुयोगद्वार उसमें और है; जैसा कि अनुयोगद्वारसूत्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है, जिसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने भी अपने उक्त 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' में उद्धृत किया है—

* सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्ततच्चाइं। —भावप्राभृत ९५

"से किं तं अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते । तं जहा—संतपयपरुवणया १ दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं ६ चेव ।" (अनु० सूत्र ८०)

इससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र और भाष्यका कथन श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं है । वास्तवमें यह दिगम्बरसूत्र है; दिगम्बरसूत्र पाठमें भी इसी तरहसे स्थित है और इसका आधार षटखण्डागमके प्रथमखण्ड जीवट्ठाणके निम्न तीन सूत्र हैं—

"एदेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥ तं जहा ॥ ६ ॥

संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥

षट्खण्डागममें और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनसे इन सत् आदि आठ अनुयोगद्वारोंका समर्थन होता है ।

(४) श्वे० सूत्रपाठके द्वितीय अध्यायमें 'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्' नामका जो १७ वां सूत्र है उसके भाष्यमें 'उपकरणं बाह्याभ्यन्तरं च' इस वाक्यके द्वारा उपकरणके बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं; परन्तु श्वे० आगममें उपकरणके ये दो भेद नहीं माने गये हैं । इसीसे सिद्धसेन गणी अपनी टीकामें लिखते हैं—

"आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति ।"

अर्थात्—आगममें तो उपकरणका कोई अन्तर-बाह्यभेद नहीं है । आचार्य-का ही यह कहींसे भी कोई सम्प्रदाय है—भाष्यकारने ही किसी सम्प्रदाय-विशेषकी मान्यतापरसे इसे अंगीकार किया है ।

इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगम-के साथ संगत नहीं है, और दूसरी यह कि भाष्यकारने दूसरे सम्प्रदायकी बातको अपनाया है । वह दूसरा (श्वेताम्बरभिन्न) सम्प्रदाय दिगम्बर हो सकता है । दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वत्र उपकरणके दो भेद माने भी गये हैं ।

(५) चौथे अध्यायमें लोकान्तिक देवोंका निवासस्थान 'ब्रह्मलोक' नामका पांचवां स्वर्ग बतलाया गया है और 'ब्रह्मलोकालया लोकान्तिका.' इस २५वें सूत्रके निम्न भाष्यमें यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक में रहने वाले ही लोकान्तिक होते हैं—अन्य स्वर्गोंमें या उनसे परे—ग्रैवेयकादिमें लोकान्तिक नहीं होते—

"ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः।"

ब्रह्मलोकमें रहने वाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दस सागरकी, और जघन्य स्थिति सातसागरसे कुछ अधिककी बतलाई गई, जैसा कि सूत्र नं० ३७ और ४२ और उनके निम्न भाष्यांशोंसे प्रकट है—

"ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेत्यर्थः।"

"माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तवे जघन्या।"

इससे स्पष्ट है कि सूत्र तथा भाष्यके अनुसार लोकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु दस सागरकी और जघन्य आयु सात सागरसे कुछ अधिककी होती है; क्योंकि लोकान्तिक देवोंकी आयुका अलग निर्देश करने वाला कोई विशेष सूत्र भी श्वे० सूत्रपाठमें नहीं है। परन्तु श्वे० आगममें लोकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकारकी आयु की स्थिति आठ सागरकी बतलाई है जैसाकि 'स्थानांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"लोगंतिकदेवाणं जहण्णमुक्कोसेणं अट्ठसागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।"—स्था० स्थान ८ सू० ६२३ व्या, श० ६ उ० ५

ऐसी हालतमें सूत्र और भाष्य दोनों का कथन श्वे० आगमके साथ संगत न होकर स्पष्ट विरोधको लिये हुए है। दिगम्बर आगमके साथ भी उसका कोई मेल नहीं है; क्यों कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी लोकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आठ सागरकी मानी है और इसीसे दिगम्बर सूत्रपाठमें

"लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" यह एक विशेषसूत्र लोकान्तिक देवोंकी आयुके स्पष्ट निर्देशको लिये हुए है।

(६) चौथे अध्यायमें, देवोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हुए, जो ४२वां सत्र दिया है वह अपने भाष्यसहित इस प्रकार है—

"परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ४२ ॥"

भाष्य—**"माहेन्द्रात्परतः पूर्वापराऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति। तद्यथा। माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्तसागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तवे जघन्या। एवमासवार्थसिद्धादिति।"**

यहां माहेन्द्र स्वर्गसे बादके वैमानिक देवोंकी स्थिति का वर्णन करते हुए यह नियम दिया है कि अगले अगले विमानोंमें वह स्थिति जघन्य है, जो पूर्व पूर्वके विमानोंमें उत्कृष्ट कही गई है, और इस नियमको सर्वार्थसिद्ध विमानपर्यन्त लगानेका आदेश दिया गया है। इस नियम और आदेशके अनुसार सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी जघन्यस्थिति बत्तीस सागरकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ठहरती है। परन्तु आगममें सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थिति एक ही प्रकारकी बतलाई है—उसमें जघन्य उत्कृष्टका कोई भेद नहीं है, और वह स्थिति तेतीस सागरकी ही है; जैसा कि श्वे० आगमके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! अजहण्णुक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।"

—प्रज्ञा० प० ४ सू० १०२

"अजहण्णमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोपमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ॥२४२॥

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३६

और इसलिए यह स्पष्ट है कि भाष्यका 'एवमासर्वार्थसिद्धादिति' वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है। सिद्धसेनगणीने भी इसे महसूस किया है और इसलिये वे अपनी टीकामें लिखते हैं—

"तत्र विजयादिषु चतुर्षु जघन्येनैकत्रिंशदुत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यजघन्योत्कृष्टा स्थितिः। भाष्यकारेण तु

सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यधीता तन्न विद्मः केनाप्यभिप्रायेण। आगमस्तावदयम्—"

अर्थात्—विजयादिक चार विमानोमें जघन्य स्थिति इकत्तीस सागरकी—उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है और सर्वार्थसिद्धमें अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है। परन्तु भाष्यकारने तो सर्वार्थसिद्धमें जघन्यस्थिति बत्तीस सागरकी बतलाई है, हमें नहीं मालूम किस अभिप्रायसे उन्होंने ऐसा कथन किया है। आगम तो यह है—(इसके बाद प्रज्ञापनासूत्रका वह वाक्य दिया है जो ऊपर उद्धृत किया गया है)।

(७) छठे अध्यायमें तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मके आस्रव-कारणोंको बतलाते हुए जो सूत्र दिया है वह इस प्रकार है—

"दर्शनविशुद्धि विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी संघसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २३ ॥"

यह सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठके बिल्कुल समकक्ष है—मात्रसाधुसमाधिसे पहले यहां 'संघ' शब्द बढ़ा हुआ है, जिससे अर्थमें कोई विशेष भेद उत्पन्न नहीं होता। दि० सूत्रपाठमें इसका नम्बर २४ है। इसमें सोलह कारणोंका निर्देश है और वे हैं—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतानतिचार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ अभीक्ष्णसंवेग, ६ यथाशक्ति त्याग, ७ यथाशक्ति तप, ८ संघसाधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना, १६ प्रवचनवत्सलत्व।

परन्तु श्वेताम्बर आगममें तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके बीस* कारण बतलाये हैं—सोलह नहीं और वे हैं—१ अर्हद्वत्सलता, २ सिद्धवत्सलता, ३ प्रवचनवत्सलता, ४ गुरुवत्सलता, ५ स्थविरवत्सलता, ६ बहुश्रुतवत्सलता, ७ तपस्वि-

* 'पढमचरमेहि पुट्ठा जिणहेऊ बीस ते इमे—

—सत्तरिसयठाणाद्वार १०

वत्सलता, ८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९ दर्शननिरतिचारता, १० विनयनिरतिचारता, ११ आवश्यकनिरतिचारता, १२ शीलनिरतिचारता, १३ व्रतनिरतिचारता १४ क्षणलवसमाधि, १५ तपःसमाधि, १६ त्यागसमाधि, १७ वैय्यावृत्यसमाधि, १८ अपूर्वज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति, २० प्रवचनप्रभावना, जैसाकि 'ज्ञाताधर्मकथांग' नामक श्वेताम्बर आगमकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेयर-बहुसुए तवस्सीसु।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ १ ॥

दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥

अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥

इनमेंसे सिद्धवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वि-वत्सलता, क्षणलवसमाधि और अपूर्व-ज्ञानग्रहण नामके छह कारण तो ऐसे हैं जो उक्त सूत्रमें पाये ही नहीं जाते; शेषमेंसे कुछ पूरे और कुछ अधूरे मिलते जुलते हैं। इसके सिवाय, उक्त सूत्रमें अभीक्ष्णसंवेग, साधुसमाधि और आचार्यभक्ति नामके तीन कारण ऐसे हैं जिनकी गणना इन आगमकथित बीस कारणोंमें नहीं की गई है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रका एकमात्र आधार श्वेताम्बर श्रुत (आगम) कैसे हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भाष्यकारने प्रवचनवत्सलत्वका "अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष-ग्लानादिनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति" * ऐसा विलक्षण लक्षण करके, इसके द्वारा उक्त बीस कारणोंमेंसे कुछ छूटे हुए कारणोंका संग्रह करना चाहा है; परन्तु फिर भी वे सब का संग्रह नहीं कर सके—सिद्धवत्सलता और क्षणलवसमाधि जैसे कुछ कारण रह ही गये और कई

* अर्थात्—'अर्हन्तदेवके शासनका अनुष्ठान करनेवाले श्रुतधरों और बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष तथा ग्लानादि जातिके मुनियोंका जो संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह करना है उसका नाम प्रवचनवत्सलता है।'

भिन्न कारणोंका भी संग्रह कर गये हैं ! इस विषयमें सिद्धसेनगणी लिखते हैं—

"विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किंचित्सूत्रे किंचिद्भाष्ये किंचित् आदिग्रहणात् सिद्धपूजा-क्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तम् उपयुज्य च प्रवक्त्रा व्याख्येयम् ।"

अर्थात्—बीस कारणोंमेंसे सूत्रकारने कुछका सूत्रमें कुछका भाष्यमें और कुछका—सिद्धपूजा क्षणलवध्यानभावनाका—'आदि' शब्दके ग्रहणद्वारा संग्रह किया है, वक्ताको ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये ।

इस तरह आगमके साथ सूत्रकी असंगतिको दूर करनेका कुछ प्रयत्न किया गया है; परन्तु इस तरह असंगति दूर नहीं हो सकती—सिद्धसेनके कथनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि सूत्रमें बीसों कारणोंका उल्लेख नहीं है । और इसलिये उक्त सूत्रका आधार श्वेताम्बर श्रुत नहीं है । वास्तवमें इस सूत्रका प्रधान आधार दिगम्बर श्रुत है, दिगम्बर सूत्रपाठके यह बिलकुल समकक्ष है इतना ही नहीं बल्कि दिगम्बर आम्नायमें आमतौर पर जिन सोलह कारणोंकी मान्यता है उन्हींका इसमें निर्देश है । दिगम्बर खट्खण्डागमके निम्नसूत्रसे भी इसका भले प्रकार समर्थन होता है—

"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलवदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपरिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यथाथामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयण-भत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोग-जुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति ।" ३–४१

इस विषयका विशेष ऊहापोह पं० फूलचंदजी शास्त्रीने अपने 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' नामक लेखमें किया है, जो चौथे वर्षके अनेकान्तकी किरण ११-१२ (पृष्ठ ५८३-५८८) में मुद्रित हुआ है । इसीसे यहां अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं समझी गई ।

(८) सातवें अध्याय का १६ वां सूत्र इस प्रकार है:—

"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।"

इस सूत्रमें तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके भेदवाले सात उत्तरव्रतोंका निर्देश है, जिन्हें शीलव्रत भी कहते है। गुणव्रतोंका निर्देश पहले और शिक्षाव्रतोंका निर्देश बादमें होता है, इस दृष्टिसे इस सूत्रमें प्रथम निर्दिष्ट हुए दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन तो गुणव्रत हैं; शेष सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगममें देशव्रतको गुणव्रतोंमें न लेकर शिक्षाव्रतोंमें लिया है और इसी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका ग्रहण शिक्षाव्रतोंमें न करके गुणव्रतोंमें किया है। जैसा कि श्वेताम्बर आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा--पंचअणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं। तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उपभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोपवासे, अतिहिसंविभागे।" —औपपातिक श्रीवीरदेशना सूत्र ५७

इससे तत्त्वार्थशास्त्रका उक्त सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं, यह स्पष्ट है। इस असंगतिको सिद्धसेनगणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह बतलाते हुए कि 'आर्ष (आगम) में तो गुणव्रतोंका क्रमसे आदेश करके शिक्षाव्रतोंका उपदेश दिया है, किन्तु सूत्रकारने अन्यथा किया है', यह प्रश्न उठाया है कि सूत्रकारने परमआर्ष वचनका किसलिये उल्लंघन किया है? जैसा कि निम्नटीका वाक्यसे प्रकट है—

"सम्प्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते। अत्राह वक्ष्यति भवान् देशव्रतं। परमार्षवचनक्रमःकैमर्थ्याद्भिन्नःसूत्रकारेण? आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेणादिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा।"

इसके बाद प्रश्नके उत्तररूपमें इस असंगतिको दूर करने अथवा उस पर कुछ पर्दा डालनेका यत्न किया गया है, और वह इस प्रकार है—

"तत्रायमभिप्रायः--पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतम्। न चास्ति सम्भवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्या, ततस्तदनन्तरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति देशे-भागेऽवस्थानं प्रतिदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथा क्रमः।"

इसमें अन्यथाक्रमका यह अभिप्राय बतलाया है कि —'पहलेसे किसीने १०० योजन परिमाण दिशागमनकी मर्यादा ली परन्तु प्रतिदिन उतनी दिशाके अवगाहनका सम्भव नहीं है, इसलिये उसके बाद ही देशव्रतका उपदेश दिया है। इससे प्रतिदिन, प्रतिप्रहर और प्रतिक्षण पूर्वगृहीत मर्यादाके एक देशमें–एक भागमें अवस्थान होता है। अतः सुखबोधार्थ—सरलतासे समझानेके लिए यह अन्यथाक्रम स्वीकार किया गया है।'

यह उत्तर बच्चोंको बहकाने जैसा है। समझमें नहीं आता कि देशव्रतको सामायिकके बाद रखकर उसका स्वरूप वहाँ बतला देनेसे उसके सुखबोधार्थमें कौनसी अड़चन पड़ती अथवा कठिनता उपस्थित होती थी और अड़चन अथवा कठिनता आगमकारको क्यों नहीं सूझ पड़ी? क्या आगमकारका लक्ष्य सुखबोधार्थ नहीं था? आगमकारने तो अधिक शब्दोंमें अच्छी तरह समझाकर—भेदोपभेदको बतलाकर लिखा है। परन्तु बात वास्तवमें सुखबोधार्थ अथवा मात्र क्रमभेदकी नहीं है, क्रमभेद तो दूसरा भी माना जाता है—आगममें अनर्थदण्डव्रतको दिग्व्रतसे भी पहले दिया है, जिसकी सिद्धसेन गणीने कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु वह क्रमभेद गुणव्रत-गुणव्रतका है, जिसका विशेष महत्व नहीं; यहां तो उस क्रमभेदकी बात है जिससे एक गुणव्रत शिक्षाव्रत और एक शिक्षाव्रत गुणव्रत हो जाता है। और इसलिए इस प्रकारकी असंगति सुखबोधार्थ कह देने मात्रसे दूर नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट कहना होगा कि इसके द्वारा दूसरे शासनभेदको अपनाया गया है। आचार्यों-आचार्योंमें इस विषयमें कितना ही मतभेद रहा है। इसके लिए लेखकका 'जैनाचार्योंका शासनभेद' ग्रन्थ देखना चाहिए।

(६) आठवें अध्यायमें 'गतिजाति' आदिरूपसे नामकर्मकी प्रकृतियोंका जो सूत्र है उसमें 'पर्याप्ति' नामका भी एक कर्म है। भाष्यमें इस 'पर्याप्ति' के पांच भेद निम्न प्रकारसे बतलाए हैं—

"पर्याप्तिः पंचविधा । तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति ।"

परन्तु दिगम्बर आगमकी तरह श्वेताम्बर आगममें भी पर्याप्तिके छह भेद माने गये हैं※—छठा भेद मनः-पर्याप्तिका है, जिसका उक्त भाष्यमें कोई उल्लेख नहीं है। और इस लिये भाष्यका उक्त कथन पूर्णतः श्वेताम्बर आगमके अनुकूल नहीं है। इस असंगतिको सिद्धसेनगणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह प्रश्न उठाया है कि 'परमआर्षवचन (आगम) में तो षट् पर्याप्तियां प्रसिद्ध हैं, फिर यह पर्याप्तियोंकी पांच संख्या कैसी ?'; जैसा कि टीकाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"ननु च षट् पर्याप्तयः पारमार्षवचनप्रसिद्धाः कथं पंचसंख्याका ? इति"।

बादको इसके भी समाधानका वैसा ही प्रयत्न किया गया है जो किसी तरह भी हृदय-ग्राह्य नहीं है। गणीजी लिखते हैं—"इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम् ।" अर्थात् इन्द्रियपर्याप्तिके ग्रहणसे यहां मनःपर्याप्तिका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। परन्तु इन्द्रियपर्याप्तिमें यदि मनः-पर्याप्तिका भी समावेश है और पर्याप्ति कोई अलग चीज नहीं है तो आगम में मनःपर्याप्तिका अलग निर्देश क्यों किया गया है ? और सूत्रमें क्यों इन्द्रियों तथा मनको अलग अलग लेकर मतिज्ञानके भेदोंकी परिगणना की गई है तथा संज्ञीअसंज्ञीके भेदोंको भी प्राधान्य दिया गया है ? इन प्रश्नोंका कोई समुचित समाधान नहीं बैठता, और इसलिये कहना होगा कि यह भाष्यकारका आगम-निरपेक्ष अपना मत है, जिसे किसी कारणविशेषके वश होकर उसने स्वीकार

※ आहार-सरीरेंदियपज्जत्ती आणपाण-भास-मणे ।
चउ पंच पंच छप्पिय इग-विगलाऽसण्णि-सण्णीणं ॥
—नवतत्त्वप्रकरण, गा० ६

अहार-सरीरेंदिय-ऊसास-वओ-मणोऽहि निव्वत्ती ।
होइ जओ दलिआओ करणं एसाउ पज्जत्ती ॥
—सिद्धसेनीया टीकामें उद्धृत पृ० १६०

किया है। अन्यथा, इन्द्रियपर्याप्तिका स्वरूप देते हुए वह इसका स्पष्टीकरण जरूर कर देता। परन्तु नहीं किया गया; जैसाकि "त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तना-क्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः" इस इन्द्रियपर्याप्तिके लक्षणसे प्रकट है। अतः श्वेताम्बर आगमके साथ इस भाष्यवाक्यकी संगति बिठलानेका प्रयत्न निष्फल है।

(१०) नवमें अध्यायका अन्तिम सूत्र इस प्रकार है—

"संयम - श्रुत - प्रतिसेवना - तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः।"

इसमें पुलाकादिक पंचप्रकारके निर्ग्रन्थमुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना आदि आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा भेदरूप सिद्ध किये जाते हैं, ऐसा उल्लेख है। भाष्यमें उस भेदको स्पष्ट करके बतलाया गया है; परन्तु उस बतलानेमें कितने ही स्थानों पर श्वेताम्बर आगमके साथ भाष्यकारका मतभेद है, जिसे सिद्धसेन गणीने अपनी टीकामें 'आगमस्त्वन्यथा व्यवस्थितः', 'अत्रैवाऽन्यथैवागमः', 'अत्राप्यागमोऽन्यथाऽतिदेशकारी' जैसे वाक्योंके साथ आगमवाक्योंको उद्धृत करके व्यक्त किया है। यहाँ उनमेंसे सिर्फ एक नमूना दे देना ही पर्याप्त होगा—भाष्यकार 'श्रुत' की अपेक्षा जैन मुनियोंके भेद को बतलाते हुए लिखते हैं—

"श्रुतम् । पुलाक-बकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाऽभिन्नाक्षर-दशपूर्वधराः । कषायकुशील-निर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । श्रुतापगतः केवली स्नातक इति ।"

अर्थात्—श्रुतकी अपेक्षा पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि ज्यादासे ज्यादा अभिन्नाक्षर (एक भी अक्षरकी कमीसे रहित) दशपूर्वके धारी होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि चौदह पूर्वके धारी होते हैं। पुलाक मुनिका कमसे कम श्रुत आचारवस्तु है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थमुनियोंका कमसे कम श्रुत आठ प्रवचनमात्रा तक सीमित है। और स्नातक मुनि श्रुतसे रहित केवली होते हैं।

इस विषयमें आगमकी जिस अन्यथा व्यवस्थाका उल्लेख सिद्धसेनने किया है वह इस प्रकार है—

"पुलाए णं भंते केवतियं सुयं अहिज्जिज्जा गोयमा! जहण्णेणं णवमस्स पुव्वस्स तत्तियं आयारवत्थु, उक्कोसेणं नव पुव्वाइ संपुण्णाइं। वउस-पडिसेवणा-कुसीला जहण्णेणं अट्ठपवयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा। कसायकुसील-निग्गंथा जहण्णेणं अट्ठपवयणमायाओ, उक्कोसेणं चौद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा।"

इसमें जघन्य श्रुतकी जो व्यवस्था है वह तो भाष्यके साथ मिलती-जुलती है; परन्तु उत्कृष्ट श्रुतकी व्यवस्थामें भाष्यके साथ बहुत कुछ अन्तर है। यहाँ पुलाक मुनियोंके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान नवपूर्व तक बतलाया है, जब कि भाष्यमें दस-पूर्व तकका स्पष्ट निर्देश है। इसी तरह बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंका श्रुतज्ञान यहाँ चौदहपूर्व तक सीमित किया गया है, जब कि भाष्यमें उसकी चरमसीमा दसपूर्व तक ही कही गई है। अतः आगमके साथ इस प्रकारके मत-भेदोंकी मौजूदगीमें जिनकी संगति बिठलानेका सिद्धसेन गणीने कोई प्रयत्न भी नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त सूत्रके भाष्यका आधार पूर्णतया श्वेताम्बर आगम है।

(११) नवमें अध्यायमें उत्तमक्षमादि-दशधर्म-विषयक जो सूत्र है उसके तपोधर्म-सम्बन्धी भाष्यका अन्तिम अंश इस प्रकार है:—

"तथा द्वादशभिक्षु-प्रतिमाः मासिक्यादयः आसप्तमासिक्यः सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः अहोरात्रिकी, एकरात्रिकी चेति।"

इसमें भिक्षुओंकी बारह प्रतिमाओंका निर्देश है, जिनमें सात प्रतिमाएँ तो एकमासिकीसे लेकर सप्तमासिकी तक बतलाई हैं, तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिकी चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी कही हैं, शेष दो प्रतिमाएँ अहोरात्रिकी और एकरात्रिकी नामकी हैं।

सिद्धसेन गणीने उक्त भाष्यकी टीका लिखते हुए आगमके अनुसार सप्त-रात्रिकी प्रतिमाएँ तीन बतलाई हैं—चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी प्रतिमाओंको आगम-सम्मत नहीं माना है, और इसलिये आप '**सप्त चतुर्दशैक-विंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः**' इस भाष्यांशको आगमके साथ असंगत, आर्षविसंवादि और प्रमत्तगीत तक बतलाते हुए लिखते हैं:—

"सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति नेदं परमार्षवचनानुसारि-भाष्यं; किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत् । वाचकोहि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निबध्नीयात् ? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम् । दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रिकीति सूत्रनिर्भेदः । द्वे सप्तरात्रे त्रीणीति सप्तरात्राणीति सूत्रनिर्भेदं कृत्वा पठितमज्ञेन सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति ।

अर्थात्—'सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य परमआर्षवचन (आगम) के अनुकूल नहीं हैं । फिर क्या है ? यह प्रमत्तगीत है—पागलों जैसी बरड़ है अथवा किसी पागलका कहा हुआ है । वाचक (उमास्वाति) पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे ? आगमसूत्रकी अनभिज्ञतासे उत्पन्न हुई भ्रान्तिके कारण किसीने इस बचनकी रचना की है । 'दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रिकी' ऐसा आगमसूत्रका निर्देश है, इसे 'द्वेसप्तरात्रे,त्रीणीति सप्तरात्राणीति' ऐसा सूत्रनिर्भेद करके किसी अज्ञानीने पढ़ा है और उसीका फल 'सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य बना है ।

सिद्धसेनकी इस टीका परसे ऐसा मालूम होता है कि सिद्धसेनके समयमें इस विवादापन्न भाष्यका कोई दूसरा आगमसंगतरूप उपलब्ध नहीं था, उपलब्ध होता तो वह सिद्धसेन-जैसे ख्यातिप्राप्त और साधनसम्पन्न आचार्यको जरूर प्राप्त होता, और प्राप्त होनेपर वे उसे ही भाष्यके रूपमें निबद्ध करते—आपत्तिजनक पाठ न देते, अथवा दोनों पाठोंको देकर उनके सत्याऽसत्यकी आलोचना करते । दूसरी बात यह मालूम होती है कि सिद्धसेन चूँकि पहलेसे भाष्यको मूल सूत्रकारकी स्वोपज्ञकृति स्वीकार कर चुके थे और सूत्रकारको पूर्ववित् भी मान चुके थे, ऐसी हालतमें जिस तत्कालीन श्वे० आगमके वे कट्टर पक्षपाती थे उसके विरुद्ध ऐसा कथन आनेपर वे एकदम विचलित हो उठे हैं और उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि किसीने यह अन्यथा कथन भाष्यमें मिला दिया है,

यही कारण है कि वे उक्त भाष्यवाक्यके कर्ताको अज्ञानी और उस भाष्यवाक्यको 'प्रमत्तगीत' तक कहनेके लिए उतारू होगये हैं। परन्तु स्वयं यह नहीं बतला सके कि उस भाष्यवाक्यको किसने मिलाया, किसके स्थानपर मिलाया, क्यों मिलाया, कब मिलाया और इस मिलावटके निर्णयका आधार क्या है? यदि उन्होंने भाष्यकारको स्वयं मूलसूत्रकार और पूर्ववित् न माना होता तो वे शायद वैसा लिखनेका कभी साहस न करते। उनका यह तर्क कि 'वाचक उतास्वाति पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे, कुछ भी महत्त्व नहीं रखता, जबकि अन्य कितने ही स्थानोंपर भी आगमके साथ भाष्यका स्पष्ट विरोध पाया जाता है और जिसके कितने ही नमूने ऊपर बतलाये जा चुके हैं। पिछले (नं० १०) नमूनेमें प्रदर्शित भाष्यके विषयमें जब सिद्धसेन गणी स्वयं यह लिखते हैं कि "आगमस्त्वन्यथा व्यवस्थितः"— आगमकी व्यवस्था इसके प्रतिकूल है, और उसकी संगति बिठलानेका भी कोई प्रयत्न नहीं करते, तब वहाँ भाष्यकारका पूर्ववित् होना कहाँ चला गया? अथवा पूर्ववित् होते हुए भी उन्होंने वहाँ 'आर्षविसंवादि' वचन क्यों निबद्ध किया? इसका कोई उत्तर सिद्धसेनकी टीका परसे नहीं मिल रहा है और इसलिये जब तक इसके विरुद्ध सिद्ध न किया जाय तब तक यह कहना होगा कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है और वह किसीके द्वारा प्रक्षिप्त न होकर भाष्यकारका निजी मत है। और ऐसे स्पष्ट विरोधोंकी हालत में यह नहीं कहा जा सकता कि भाष्यादिका एकमात्र आधार श्वेताम्बर-श्रुत है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ ये सब प्रमाण, जो ऊपर दो भागोंमें संकलित किये गये हैं, इस बातको बतलानेके लिये पर्याप्त हैं कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं और न दोनोंकी रचना सर्वथा श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर अवलम्बित है, उसमें दिगम्बर आगमोंका भी बहुत बड़ा हाथ है* और कुछ मन्तव्य ऐसे भी हैं जो दोनों सम्प्रदायोंसे भिन्न

* इस विषयकी विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजों-

किसी तीसरे ही सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं अथवा सूत्रकार तथा भाष्यकारके निजी मतभेद हैं। और इसलिये उक्त दोनों दावे तथ्यहीन होनेसे मिथ्या हैं। आशा है विद्वज्जन इस विषय पर गहरा विचार करके अपने-अपने अनुभवोंको प्रकट करेंगे। ज़रूरत होनेपर जाँच-पड़तालकी विशेष बातोंको फिर किसी समय पाठकोंके सामने रक्खा जायगा।

की खोज' नामका वह निबन्ध देखना चाहिये जो चतुर्थ वर्षके 'अनेकान्त' की प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

स्वामी समन्तभद्र

प्रास्ताविक

जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें भगवान् **समन्तभद्र** स्वामीका आसन बहुत ऊँचा है। ऐसा शायद कोई ही अभागा जैनी होगा जिसने आपका पवित्र नाम न सुना हो; परन्तु समाजका अधिकाँश भाग ऐसा जरूर है जो आपके निर्मल गुणों और पवित्र जीवनवृत्तान्तोंसे बहुत ही कम परिचित है—बल्कि यों कहिये कि अपरिचित है। अपने एक महान् नेता और ऐसे नेताके विषयमें जिसे '**जिनशासनका प्रणेता***' तक लिखा है समाजका इतना भारी अज्ञान बहुत ही खटकता है। मेरी बहुत दिनोंसे इस बातकी बराबर इच्छा रही है कि आचार्यमहोदयका एक सच्चा इतिहास—उनके जीवनका पूरा वृत्तान्त—लिखकर लोगोंका यह अज्ञानभाव दूर किया जाय। परन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी मैं अभी तक अपनी उस इच्छाको पूरा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है। समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी बहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परन्तु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको मालूम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न-होना प्रायः बराबर हो रहा है। वह न तो अधिकारियोंके स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिए दी जाती है और इसलिए उसकी दिनपर दिन तृतीया गति (नष्टि) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है!

* देखो, श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं० १०८ (नया नं०२५८)।

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसंधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं। एक नामके कई कई विद्वान् हो गये हैं*; एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्यादिके भेदसे कई कई नाम अथवा उपनाम भी हुए हैं ‡ और दूसरे विद्वानोंने उनका यथारुचि—चाहे जिस नामसे—अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है; एक नामके कई कई पर्यायनाम भी होते हैं और उन पर्यायनामों अथवा आंशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानोंतथा आचार्योंका उल्लेख † मिलता है; कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और ग्रंथकारके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवादित रूपसे ही उन भाषाओंके ग्रन्थोंमें उल्लेखित हैं; एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम, उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवादित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अक्सर होते रहे हैं; सम-सामयिक व्यक्तियोंके

---

* जैसे, 'पद्मनन्दि' और 'प्रभाचन्द्र' आदि नामोंके धारक बहुतसे आचार्य हुए हैं। 'समन्तभद्र' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई 'लघु' या 'चिक्क', कोई 'अभिनव', कोई 'गेरुसोप्पे', कोई 'भट्टारक' और कोई 'गृहस्थ' समन्तभद्र कहलाते थे। इन सबके समयादिका कुछ परिचय रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र)की प्रस्तावना अथवा तद्विषयक निबन्धमें' ग्रन्थपर सन्देह' शीर्षकके नीचे, दिया गया है। स्वामी समन्तभद्र इन सबसे-भिन्न थे और वे बहुत पहले हो गये हैं।

‡ जैसे 'पद्मनन्दी' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम था और बादको कोण्डकुन्दाचार्य' यह उनका देशप्रत्यय-नाम हुआ है; क्योंकि वे 'कोण्डकुन्दपुर'-के निवासी थे। गुर्वालियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य ाम भी दिये हैं, जो ठीक होनेपर गुणादिप्रत्ययको लिये हुए समझने चाहियें और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं।

† जैसे नागचन्द्रका कहीं 'नागचन्द्र' और कहीं 'भुजंगसुधाकर' इस पर्याय-नामसे उल्लेख पाया जाता है। और प्रभाचन्द्रका 'प्रभेन्दु' यह आंशिक पर्याय नाम है,जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है।

नामोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है; कोई कोई विद्वान् कई कई आचार्योंके भी शिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको चाहे जहाँ चाहे जिस आचार्यका शिष्य सूचित किया है; एक संघ अथवा गच्छके किसी अच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गच्छने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गच्छका आचार्य सूचित किया है; इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अधिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गद्दियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई पट्टशिष्य हो गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही पट्टगुरु सूचित किया है। इस प्रकार की हालतोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता चलाना कितनी टेढी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके लिये यथार्थ वस्तु वस्तुस्थितिका निर्णय करने अथवा किसी खास घटना या उल्लेखको किसी खास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों तथा कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इसका अच्छा अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ अर्सेतक काम करनेका अवसर मिला हो। अस्तु।

यथेष्ट साधनसामग्रीके बिना ही इन सब अथवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिक्कतों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंसे गुज़रते हुए, मैंने आजतक स्वामी समन्तभद्रके विषयमें जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी कृतियों, दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिलालेखों आदि परसे मैं मालूम कर सका हूँ—अथवा जिसका मुझे अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधन सामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित मालूम होता है, और इसलिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है।

पितृकुल और गुरुकुल

स्वामी समन्तभद्रके बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ-जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता और न यह मालूम होता है कि उनके माता पिताका क्या नाम था। हाँ, आपके 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणबेलगोलके दौर्बलि-जिनदास शास्त्रीके भंडारमें पाई जाती है उसके अन्तमें लिखा है—

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्र-मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् *।"

इससे मालूम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और राजपुत्र थे। आपके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे, और इसलिए उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा बाल्यलीलाभूमि समझना चाहिये। 'राजावलीकथे' में आपका जन्म 'उत्कलिका' ग्राममें होना लिखा है, जो प्रायः उरगपुरके ही अन्तर्गत होगा। यह उरगपुर 'उरैयूर'† का ही संस्कृत अथवा श्रुति-मधुर नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तट पर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धशाली जनपद था।

समन्तभद्रका बनाया हुआ 'स्तुतिविद्या' ‡ अथवा 'जिनस्तुतिशतं' नामका एक अलंकारप्रधान ग्रंथ है, जिसे 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' भी कहते हैं। इस ग्रंथका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामका जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको लिये हुए एक चित्रबद्ध काव्य है। इस काव्यकी छह आरे और नव वलयवाली चित्ररचनापरसे ये दो पद निकलते × हैं—

'शांतिवर्मकृतं,' 'जिनस्तुतिशतं'।

इनसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ और इसलिये 'शान्तिवर्मा' समन्तभद्रका ही नामान्तर है। परन्तु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं हो सकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम नहीं होते। जान पड़ता है यह

---

* देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७–८, पृष्ठ ४८०। आराके जैन-सिद्धान्तभवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्रायः ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है।

† महाकवि कालिदासने अपने 'रघुवंश' में भी 'उरगपुर' नामसे इस नगर का उल्लेख किया है।

‡ यह नाम ग्रन्थके आदिम मंगलाचरणमें दिये हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञावाक्यसे जाना जाता है।

× देखो. वसुनन्दिकृत 'जिनशतक-टीका'।

आचार्यमहोदयके मातापितादि-द्वारा रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था। इस नामसे भी आपके क्षत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है। यह नाम राज-घरानोंका-सा है। कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गए हैं। कदम्बोंमें 'शांतिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है।

यहाँ पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिनस्तुतिशतं' नामका ग्रन्थ समन्तभद्रका बनाया हुआ न होकर शांतिवर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्का बनाया हुआ होगा; क्योंकि यह ग्रन्थ निर्विवाद-रूपसे स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ माना जाता है। ग्रन्थकी प्रतियोंमें कर्तृत्वरूपसे समन्त-भद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार श्रीवसुनन्दीने भी उसे **'तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचित'** सूचित किया है और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समन्तभद्रके नामसे, अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है। उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें अजितसेना-चार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रन्थके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समन्तभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम्।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम्॥

इसके सिवाय पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयंभूस्तोत्र' का जो संस्करण संस्कृतटीका और मराठी अनुवादस-हित प्रकाशित कराया है उसमें समन्तभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है— **"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनाम्ना श्रीसमंत-भद्रेण।"** यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य* हो तो इससे यह विषय और

* पं० जिनदासकी इस सूचनाको देखकर मैंने पत्र-द्वारा उनसे यह मालूम करना चाहा कि कर्णाटक देशसे मिली हुई अष्टसहस्रीकी वह कौनसी प्रति है और कहाँके भण्डारमें पाई जाती है जिसमें उक्त उल्लेख मिलता है। क्योंकि दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भण्डारसे मिली हुई 'आप्तमीमांसा' के उल्लेखसे यह

भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था।

वास्तवमें ऐसे ही महत्त्वपूर्ण काव्यग्रंथोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है। इस ग्रंथमें आपने जो अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए निर्मल भक्तिगंगा बहाई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही हैं। आपसे भिन्न 'शांतिवर्मा' नामका कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं। इस लिये उक्त शंका निर्मूल जान पड़ती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि समंतभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी। परन्तु ग्रन्थके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्यमहोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति

उल्लेख कुछ भिन्न है। उत्तरमें आपने यह सूचित किया कि यह उल्लेख पं० वंशीधरजीकी लिखी हुई अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना परसे लिया गया है, इसलिये इस विषयका प्रश्न उन्हींसे करना चाहिये। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना (परिचय) को देखने पर मालूम हुआ कि इसमें 'इति' से 'समन्तभद्रेण' तकका उक्त उल्लेख ज्योंका त्यों पाया जाता है, उसके शुरूमें 'कर्णाटदेशतो लब्धपुस्तके' और अन्तमें 'इत्याद्युल्लेखो दृश्यते' ये शब्द लगे हुए हैं। इसपर ता० ११ जुलाईको एक रजिस्टर्ड पत्र पं० वंशीधरजीको शोलापुर भेजा गया और उनसे अपने उक्त उल्लेखका खुलासा करनेके लिये प्रार्थना की गई। साथ ही यह भी लिखा गया कि 'यदि आपने स्वयं उस कर्णाट देशसे मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो जिस आधार पर आपने उक्त उल्लेख किया है उसे ही कृपया सूचित कीजिये'। ३ री अगस्त सन् १९२४ को दूसरा रिमाण्डर पत्र भी दिया गया परन्तु पंडित-जीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देनेकी कृपा नहीं की। और भी कहींसे इस उल्लेखका समर्थन नहीं मिला। ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संदिग्ध मालूम होता है। आश्चर्य नहीं जो जैनहितैषीमें प्रकाशित उक्त 'आप्तमीमांसा' के उल्लेखकी गलत स्मृति परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि उक्त प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ गलत उल्लेख पाये जाते हैं—जैसे 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' नामक पद्यको मल्लिषेणप्रशस्तिका बतलाना, जिसका वह पद्य नहीं है।

मुनिअवस्थाकी ही मालूम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकार की महापांडित्यपूर्ण और महदुच्चभावसम्पन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रन्थको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १६, ७६ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १६ वें पद्यसे ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी संसारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर) वीतराग भगवान्की शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय (ग्रन्थरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि-अनुष्ठित आचार-जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यशंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचारं + और 'भयात् तन्वायातं' × ये अपने (मा = 'मां' पदके) दो खास विशेषणपद दिये हैं उसी प्रकार ७६ वें ⊛ पद्यमें उन्होंने **'ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं'** विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि त्रास उद्वेग-बिल्कुल नष्ट (अस्त) नहीं हुआ था—सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था—फिर भी वह ध्वंसमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको उद्वेजित अथवा संत्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊँचे दर्जे पर जाकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है

* यह पद्य आगे 'भावी तीर्थंकरत्व' शीर्षकके नीचे उदधृत किया गया है।

+ 'पूतः पवित्रः सु सुष्टु अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनतमाचारम्'—इति टीका।

× 'भयात् संसारभीतेः। तन्वा शरीरेण (सह) आयातं आगतं।'

⊛ यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्वसमान समानन्द्या भासमान स माऽनघ ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥ ७६ ॥

कि इस ग्रंथकी रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है। टीकाकार आचार्य वसुनन्दीने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें 'श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए '**ऋद्धं**' विशेषणका अर्थ '**वृद्धं**' करके, और ११५ वें पद्यके '**वन्दीभूतवतः**' पदका अर्थ '**मंगलपाठकीभूतवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम**' ऐसा देकर, यही सूचित किया है कि यह ग्रंथ समन्तभद्रके मुनिजीवनका बना हुआ है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह कराया या कि नहीं, इस बातके जाननेका प्रायः कोई साधन नहीं है। हां, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाया जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको धारण किया था और विवाह भी कराया था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता कि आपके पुत्रका नाम मृगेशवर्मा, पौत्रका रविवर्मा, प्रपौत्रका हरिवर्मा और पिताका नाम काकुत्स्थवर्मा था; क्योंकि काकुत्स्थवर्मा, मृगेशवर्मा और हरिवर्माके जो दानपत्र जैनियों अथवा जैनसंस्थाओंको दिये हुए हलसी और बैजयन्ती के मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है*। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कदम्बवंशी राजा प्रायः सब जैनी हुए हैं और दक्षिण (बनबास) देशके राजा हुए हैं; परंतु इतने परसे ही, नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शांतिवर्मा कदम्ब और शांतिवर्मा समंतभद्र दोनों एक व्यक्ति थे। दोनोंको एक व्यक्ति सिद्ध करनेके लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है, जिनका इससमय अभाव है। मेरी रायमें, यदि समंतभद्रने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने जल्दी ही थोड़ी अवस्थामें, मुनि-दीक्षा धारण की है और तभी वे उस असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके है जो उनकी कृतियों तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा। ऐसा मालूम होता है कि

---

* देखो 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज़्म' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा पृष्ठ ८७।

समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैनधर्म और जिनेन्द्रदेवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति आपका नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था। ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्यासन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे तब कुटुम्बको छोड़ देते थे और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे; उन्हें अधिक समयतक अपनी देशीय रियासतमें रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी *। और यह एक चर्या थी जिसे भारतकी, खासकर बुद्धकालीन भारतकी, धार्मिक संस्थाने छोटे पुत्रोंके लिये प्रस्तुत किया था, इस कार्यमें पड़ कर योग्य आचार्य कभी कभी अपने राजबन्धुसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे। संभव है कि समंतभद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुज़रना पड़ा हो; उनका कोई बड़ा भाई राज्याधिकारी हो, उसे ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिला हो, और इस लिये समंतभद्रने न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो; बल्कि अपनी स्थितिको समझ कर उन्होंने अपने जीवनको शुरूसे ही धार्मिक साँचेमें ढाल लिया हो; और पिताकी मृत्यु पर अथवा उससे पहले ही अवसर पाकर आप दीक्षित हो गये हों; और शायद यही वजह हो कि आपका फिर उरगपुर जाना और वहां रहना प्रायः नहीं पाया जाता। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणति-में कृत्रिमताकी ज़रा भी गंध नहीं थी। आप स्वभावसे ही धर्मात्मा थे और आपने

---

* इस दस्तूरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखकसे मिलता है (Matwan-lin, cited in Ind. Ant. IX, 22.) देखो, विन्सेण्ट स्मिथकी अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया' पृ० १८५, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

An ancient Chinese writer assures us that 'according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumararaja); the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom.'

अपने अन्तःकरणकी आवाज़से प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा* धारण की थी।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूरमें ही हुई है और या वह कांची अथवा मदुरामें हुई जान पड़ती है। ये तीनों ही स्थान उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके खास केन्द्र थे और इन सबोंमें जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे, जो उस समय बड़े बड़े विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची था उसके आसपासका कोई ग्राम जान पड़ता है और कांची ※ ही—जिसे 'कांजीवरम्' भी कहते हैं—आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही मालूम होती है। आप वहींके दिगम्बर साधु थे। '**कांच्यां नग्नाटकोऽहं** +' आपके इस वाक्यसे भी प्रायः यही ध्वनित होता है। कांचीमें आप कितनी ही बार गये हैं, ऐसा उल्लेख × 'राजावलीकथे' में भी मिलता है।

पितृकुलकी तरह समन्तभद्रके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरुका क्या नाम था। स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और न दूसरे

---

* सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिनानुष्ठित सम्यक्चारित्रके ग्रहणको 'जिनदीक्षा' कहते हैं। समन्तभद्रने जिनेन्द्रदेवके चारित्र-गुणको अपनी जाँच-द्वारा 'न्यायविहित' और 'अद्भुत उदयसहित' पाया था, और इसी लिये वे सुप्रसन्नचित्तसे उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमें लीन हुए थे। नीचेके एक पद्यसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने! त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

—स्वयंभूस्तोत्र।

※ द्रविड देशकी राजधानी जो अर्सेतक पल्लवराजाओंके अधिकारमें रही है। यह मद्राससे दक्षिण–पश्चिमकी ओर ४२ मीलके फासलेपर, वेगवती नदी पर स्थित है।

+ यह पूरा पद्य आगे दिया जायगा।

× स्टडीज़ इन साउथ इंडियन जैनिज़म, पृ० ३०।

विद्वानोंने ही उनके गुरुकुलके सम्बन्धमें कोई खास प्रकाश डाला है। हाँ, इतना जरूर मालूम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'हस्तिमल्ल' और 'अय्यप्पार्य'ने 'श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुः' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आकाशका चन्द्रमा लिखा है*। इसके सिवाय श्रवणबेल्गोलके कुछ शिलालेखोंसे इतना पता और चलता है कि आप श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्रीकोंडकुन्दमुनिराज, उनके वंशज उमास्वाति अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य, और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंशपरम्परामें हुए हैं। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चंद्रप्रकाशोज्जलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाऽशेषपदार्थवेदी॥
श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि-
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥
एवं महाचार्यपरंपरायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः॥

—शिलालेख नं० ४० (६४)।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चन्द्रगुप्तको भद्रबाहुका और बलाकपिच्छको उमास्वातिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समन्तभद्र, अथवा कुन्द-

* देखो, 'विक्रान्तकौरव' और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामके ग्रन्थ।

कुन्द और उमास्वाति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं किया कि वे किसके शिष्य थे। दूसरे* शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त शिष्योंकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी अथवा उन्होंने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी। संभव है कि उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेष उदासीन परिणतिके कारण साहित्यसेवाका काम बहुत कम हुआ हो और यही बात बादको, समय बीतने पर, उनकी अप्रसिद्धि का कारण बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि इस शिलालेख में, और इसी प्रकारके दूसरे शिलालेखोंमें भी, जिस ढंगसे कुछ चुने हुए आचार्यों के बाद समन्तभद्रका नाम दिया है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र बहुत ही खास आचार्योंमेंसे थे। उनकी कीर्ति उनके गुरुकुल अथवा गण-गच्छसे ऊपर है; पितृकुलको भी वह उल्लंघ गई है। और इस लिये, साधनाभावके कारण, यदि हमें उनके गुरुकुलादिका पूरा पता नहीं चलता†

---

* देखो 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेल्गोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर बी. लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका संशोधित-संस्करण १९२३ का छपा हुआ। शिलालेखोंके जो नये नम्बर कोष्ठक आदिमें दिये हैं वे इसी संशोधित सस्करणके नम्बर हैं।

† श्रवणबेलगोलके दूसरे शिलालेखोंमें, और दूसरे स्थानोंके शिलालेखोंमें भी, कुन्दकुन्दको नन्दिगण तथा देशीय गणका आचार्य लिखा है। कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परामें होनेसे समंतभद्र नन्दिगण अथवा देशीयगणके आचार्य ठहरते हैं। परन्तु जैनसिद्धान्तभास्करमें प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें आपको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि यह पट्टावली पूरी तौर पर पट्टावलीके ढंगसे नहीं लिखी गई और न इसमें सभी आचार्योंका पट्टक्रमसे उल्लेख है फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इसमें समन्तभद्रको सेनगणके आचार्योंमें परिगणित किया है। इन दोनोंके विरुद्ध १०८ नंबरका शिलालेख यह बतलाता है कि नन्दि और सेनादि भेदोंको लिये हुए यह चार प्रकारका संघभेद भट्टाकलंकदेवके

तो न सही; हमें यहाँ पर उसकी चिन्ताको छोड़कर अब आचार्यमहोदयके गुणों-की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये—यह मालूम करना चाहिये कि वे कैसे कैसे गुणोंसे विशिष्ट थे और उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी क्या कुछ सेवा हुई है ।

गुणादि-परिचय

ऊपरके शिलालेखमें '**गुणतोगणीशः**' विशेषणके द्वारा स्वामी समन्तभद्रको गुणोंकी अपेक्षा गणियोंका—संघाधिपति आचार्योंका—ईश्वर (स्वामी) सूचित किया है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि, 'आप समन्तात् भद्र' थे—बाहर भीतर सब ओरसे भद्ररूप* थे—अथवा यों कहिये कि आप भद्रपरिणामी थे, भद्रवाक् थे, भद्राकृति थे, भद्रदर्शन थे, भद्रावलोकी थे, भद्रव्यवहारी थे, और इस लिये जो लोग आपके पास आते थे वे भी भद्रतामें परिणत हो जाते थे । शायद इन्हीं गुणोंकी वजहसे, दीक्षासमय ही, आपका नाम 'समन्तभद्र' रक्खा गया हो, अथवा आप बादको इस नामसे प्रसिद्ध हुए हों और यह आपका गुणप्रत्यय नाम हो । इसमें संदेह नहीं कि, समंतभद्र एक बहुत ही बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्त्वज्ञानी हो गये हैं । आपकी भद्रमूर्ति, तेजःपूर्ण-दृष्टि

स्वर्गारोहणके बाद उत्पन्न हुआ है और इससे समंतभद्र न तो नन्दिगणके रहते हैं और न सेनगणके; क्योंकि वे अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं । अकलंक-देवसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख अभी देखनेमें नहीं आया । इन्द्रनन्दिके 'नीतिसार' और १०५ नंबरके शिलालेखमें इन चारों संघोंका प्रवर्तक 'अर्हद्बलि' आचार्यको लिखा है; परंतु यह सब साहित्य अकलंकदेवसे बहुत ही पीछेका है । इसके सिवाय, तिरुमकूडलु-नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ में (E. C. III) समंतभद्रको द्रमिल संघके अन्तर्गत नन्दिसंघकी अरुङ्गल शाखा (अन्वय) का विद्वान् सूचित किया है । ऐसी हालतमें समंतभद्रके गण-गच्छादिका विषय कितनी गड़बड़में है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं ।

* 'भद्र' शब्द कल्याण, मंगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्प आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है ।

गमक✻ थे उन सब पर आपके यशकी छाप पड़ी हुई थी—आपका यश चूडा-मणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह बादको भी बड़े बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि, आजसे ग्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट हैं—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण ।

भगवान् समंतभद्रके इन वादित्व और कवित्वादि गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये नीचे कुछ प्रमाणवाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

(१) यशोधरचरितके कर्ता और विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि **वादिराजसूरि**, समंतभद्रको 'उत्कृष्टकाव्य-माणिक्योंका रोहण (पर्वत)' सूचित करते हैं और साथ ही यह भावना करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी रत्नोंके समूहको प्रदान करने वाले होवें—

श्रीमत्समंतभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(२) 'ज्ञानार्णव' ग्रंथके रचयिता योगी **श्रीशुभचंद्राचार्य**, जो विक्रमकी प्रायः ११वीं शताब्दीके विद्वान हैं, समंतभद्रको 'कवीन्द्रभास्वान्' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता करने लगते हैं।

✻ 'गमकः कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्मको समझने-वाला—उनकी तहतक पहुँचनेवाला—हो और दूसरोंको उनका मर्म तथा रहस्य समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं। निश्चायक, प्रत्ययजनक और संशयछेदी भी उसीके नामान्तर हैं।

और इस तरहपर उन्होंने समंतभद्रके मुकाबलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां, न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥

(३) अलंकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें 'कविकुंजर' 'मुनिवंद्य' और 'जनानन्द' (लोगोंको आनंदित करने-वाले) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मैं उन्हें अपनी 'वचनश्री' के लिए—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ ३ ॥

(४) वरांगचरित्रमें, परवादि-दन्ति-पंचानन श्रीवर्धमानसूरि, समंतभद्रको 'महाकवीश्वर' और 'सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर' प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्र कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे। साथ ही, यह भावना करते हैं कि वे महाकवीश्वर मुझ कविताकांक्षीपर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करे—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, समन्तभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें 'महान् कविवेधा' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (महाकवि-ब्रह्मा) लिखा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमत-रूपी पर्वत खंड खंड हो गये थे—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने 'हनुमच्चरित्र' में, समन्तभद्रका जयघोष करते हुए, उन्हें 'भव्यरूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाला चन्द्रमा' लिखा है और साथ

समन्तभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं; ऐसे सुन्दर मृदुलवचन ही कहते बनता था। और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादिजन नीचा मुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव छा जाता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।

(१२) **अजितसेना**चार्यके 'अलंकार-चिन्तामणि' ग्रन्थमें और कवि **हस्तिमल्ल**के 'विक्रान्तकौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

*अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम्॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

इस पद्यसे भी समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हालत होती थी उसका कुछ बोध होता है।

कितने ही विद्वानोंने इस पद्यमें 'धूर्जटि' को 'महादेव' अथवा 'शिव' का पर्याय नाम समझा है और इसलिये अपने अनुवादोंमें उन्होंने 'धूर्जटि' की जगह महादेव तथा शिव नामोंका ही प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा नहीं है। भले ही यह नाम, यहां पर, किसी व्यक्ति-विशेषका पर्यायनाम हो, परन्तु वह महादेव नामके रुद्र अथवा शिव नामके देवताका पर्याय नाम नहीं है। महादेव न तो

* 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी, जो शक सं० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ़ 'धूर्जटेर्जिह्वा'के स्थानमें 'धूर्जटेरपि जिह्वा' यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमें देखा जाता है।

समन्तभद्रके समसामयिक व्यक्ति थे और न समन्तभद्रका उनके साथ कभी कोई साक्षात्कार या वाद ही हुआ। ऐसी हालतमें यहाँ 'धूर्जटि' से महादेवका अर्थ निकालना भूलसे खाली नहीं है। वास्तवमें इस पद्यकी रचना केवल समन्तभद्रका महत्व ख्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समन्तभद्रके वादविषयकी एक खास घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तत्त्वोंका पता चलता है—एक तो यह कि समन्तभद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेमें प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तात्कालिक व्यक्तिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सूचित करता है; दूसरे यह कि, समन्तभद्रका उसके साथ वाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोल नहीं आया।

पद्यका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जो शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मल्लिषेणप्रशस्ति नामके ५४वें (६७वें) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

*अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषां॥

इस पद्यमें 'धूर्जटि'के बाद 'अपि' शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें **'सति का कथान्येषां'**की जगह **'तव सदसि भूप कास्थान्येषां'** ये शब्द दिये हुए हैं। साथ ही इसका छन्द भी दूसरा है। पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यगीति' नामके छंदमें है, जिसके समचरणोंमें बीस बीस मात्राएँ होती हैं। अस्तु; इस पद्यमें पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह मालूम होता है कि यह पद्य समंतभद्रकी ओरसे अथवा, उनकी मौजूदगीमें, उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है। वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो। पहली हालतमें यह पद्य धूर्जटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित

---

* दावणगेरे ताल्लुकके शिलालेख नं० ९० में भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३वें वर्ष, कीलक संवत्सर (ई० सन ११२८) का लिखा हुआ है यह पद्य इसी प्रकार दिया है। देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११वीं।

आधुनिक 'करहाड * या कराड़' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रदेशका 'कोल्हापुर' † नगर बतलाया हैं, और जो उस समय बहुतसे भटों (वीर-योद्धाओं) से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने वादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवण-बेलगोलके उक्त ५४ वें शिलालेखमें निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

‡ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह मालूम होता है कि 'करहाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र (पटना) नगर, मालव (मालवा), सिन्धु तथा ठक्क §

---

* देखो, मिस्टर एडवर्ड पी० राइस बी०ए० रचित 'हिस्टरी आफ़ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २३।

† देखो, मिस्टर बी० लेविस राइसकी 'इंस्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल नामकी पुस्तक, पृ० ४२; परन्तु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें, जिसे आर० नरसिंहाचारने तैय्यार किया है, शुद्धिपत्रद्वारा 'कोल्हापुर' के स्थानमें 'कर्हाड' बनानेकी सूचना की गई है।

‡ यह पद्य ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधनाकथाकोष'में भी पाया जाता है; परन्तु यह ग्रंथ शिलालेखसे कई सौ वर्ष पीछेका बना हुआ है।

§ कनिंधम साहबने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पंजाब देशके साथ समीकरण किया है (S. I. J. 30); मिस्टर लेविस राइस साहबने भी अपनी श्रवणबेलगोल-के शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पंजाब देश लिखा है। और 'हिस्टरी आफ़ कन-डीज़ लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राईस साहबने उसे In the Punjab लिखकर पंजाबका एक देश बतलाया है। परन्तु हमारे कितने ही

(पंजाब) देश, काँचीपुर (कांजीवरम्), और वैदिश‡ (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं किया था। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने वादकी भेरी बजाई थी वह 'पाटलीपुत्र' नामका शहर था, जिसे आजकल 'पटना' कहते हैं और जो सम्राट् चंद्रगुप्त (मौर्य) की राजधानी रह चुका है।

'राजावलीकथे' नामकी कनडी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी समंतभद्रका यह सब आत्मपरिचय दिया हुआ है—विशेषता सिर्फ इतना ही है कि उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट' नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर लेविस राइस साहब अपनी 'इन्स्क्रिपूशन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। परन्तु इससे यह मालूम न हो सका कि राजावलीकथेका वह सब परिचय केवल कनडीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पद्यका

जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ढक्क' पाठ बनाकर उसे बंगाल प्रदेशका 'ढाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है। पंजाबमें, 'अटक' एक प्रदेश है। संभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पंजाब 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिंधुके पास है। पद्यमें भी 'सिंधु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पंजाब देश या उसका अटकवाला प्रदेश ही मालूम होता है—बंगाल या ढाका नहीं। पंजाबके उस प्रदेशमें 'ठट्टा' आदि और भी कितने ही नाम इसी प्रकारके पाये जाते हैं। प्राक्तनविमर्षविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पंजाब देश ही लिखा है।

‡ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देश की राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम भिलसा है। राइस साहबने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणबेलगोल-शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमें कर दिया गया है। इसी तरह पर आय्यंगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है।

प्राप्त हो गई थी जिससे वे दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे। उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

...समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र०।

....समंतभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः।

—जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय।

...समंतभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु.......।

—राजावलीकथे।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था। जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानी-के साथ घूम सके हैं।

समंतभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आय्यंगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—

"....It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went."

अर्थात्—यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलाने-का उद्योग किया है, और यह कि जहां कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा।

जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवानविराधयंतः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेप-कुशला जलचारणाः। भुव उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्र-करणपटवो बहुयोजनशतासु गमनप्रवणा जंघचारणाः। एवमितरे च वेदितव्याः।'

—अध्याय ३, सूत्र ३६।

'हिस्टरी आफ़ कनडीज लिटेचर' के लेखक—कनड़ी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समंतभद्रको एक तेजःपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे। साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने वादभेरी बजानेके उस दस्तूरसे पूरा लाभ उठाया है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है, और वे बड़ी शक्तिके साथ जैनधर्मके 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' को पुष्ट करनेमें समर्थ हुए हैं *।

यहां तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्रके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके लिये उनके देशाटनका कितना ही हाल तो मालूम हो गया, परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समंतभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसकी वजहसे वे हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत + रहे हैं कि विद्वान् लोग उनकी वादघोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था—वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके

---

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant, and a great preacher of the Jain religion throughout India...........It was the custom in those days, alluded to by Fa Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city, and any learned man,wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation,....Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syadvada.

+ मिस्टर आय्यंगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है। S. in S.I. Jainism, 29.

लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते, फिर भी समंतभद्रके साथमें ऐसा प्रायः कुछ भी न होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होने की जरूरत है और जिसको जानने के लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और अपनेको समंतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है उसके आधार पर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि, समंतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्त्वमें संनिहित है, अथवा यों कहिये कि यह सब अंतःकरण तथा चरित्रकी शुद्धिको लिये हुए उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं। समंतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित भावनाकी गंध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्ग पर आरूढ़ थे और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहचानें और उसपर चलना आरंभ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद* तथा कष्ट होता था और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर, इस प्रकार हैं—

मद्यांगवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषां।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा ! प्रपातः ॥३६॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषं।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत ! विभ्रमन्ति ॥३७॥

—युक्त्यनुशासन।

उद्धारका अपनी शक्तिभर उद्योग किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्म-हितसाधनके बाद दूसरोंका हितसाधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका संपादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे, न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शांति भंग होती थी, उनकी आंखोंमें कभ सुर्खी नहीं आती थी, हमेशा वे हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे, बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्व पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरभाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे, अपशब्दमदान्धों को भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिए हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समंतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समंतभद्र स्वयं परीक्षाप्रधानी थे, वे कदाग्रहको बिल्कुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपसे स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, बिना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहने पर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोंद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढ़नेका कभी यत्न नही करते थे। वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अंग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी

एक धर्म या अंगको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है, और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है, सर्वथा सत्-असत्-एक-अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्ततत्त्व ही उसका विषय* है। वह सप्तभंग‡ तथा नय× विवक्षाको लिये रहता है और हेयादेयका विशेषक है, उसका 'स्यात्' शब्द ही वाक्योंमें अनेकान्तताका द्योतक तथा गम्यका विशेषण है और वह 'कथंचित्' आदि शब्दोंके द्वारा भी अभिहित होता है। यथा—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणं।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३॥
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४॥
—देवागम।

अपनी घोषणाके अनुसार, समंतभद्र प्रत्येक विषयके गुणदोषोंको स्याद्वाद-

---

* 'सर्वथासदसदेकानेकनित्यानित्यादिसकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषयः स्याद्वादः'।—देवागमवृत्तिः।

‡ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य, ये सात भंग हैं जिनका विशेष स्वरूप तथा रहस्य भगवान् समंतभद्रके 'आप्तमीमांसा' नामक 'देवागम' ग्रन्थमें दिया हुआ है।

× द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकके विभागको लिये हुए, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे सात नय हैं। इनमेंसे पहले तीन नय 'द्रव्यार्थिक' और शेष 'पर्यायार्थिक' कहे जाते हैं। इसी तरह पहले चार 'अर्थनय' और शेष तीन 'शब्दनय' कहे जाते हैं। द्रव्यार्थिकको कथंचित् शुद्ध, निश्चय तथा भूतार्थ और पर्यायार्थिकको अशुद्ध, व्यवहार तथा अभूतार्थ नय भी कहते हैं। इन नयोंका विस्तृत स्वरूप 'नयचक्र' तथा 'श्लोकवार्तिक' आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे—वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्त पक्षोंके मानलेने से क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करलेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य बैठ जाता है *। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था; वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह मोहन मंत्र था जिससे समंतभद्रको दूसरे संप्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्राय: नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई।

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूँ कि समंतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे; वे दूसरोंको स्याद्वाद मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवनको स्याद्वादके रंगमें पूरी

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समंतभद्रका 'आप्तमीमाँसा' नामक ग्रंथ देखना चाहिये, जिसे 'देवागम' भी कहते हैं। यहाँपर अद्वैत एकांतपक्षमें दोषोद्भावन करनेवाले उसके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

> अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
> कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
> कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
> विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥
> हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
> हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥२६॥
> अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
> संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

तौरसे रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे*। उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग, अपने अज्ञान ताप-को मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे। वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद्व-विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है। उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता। इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमांसा' नामका ग्रंथ जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रंथ है। जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्रायः अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था। समंतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभाव-को सर्वत्र व्याप्त किया है। इसीसे विद्वान् लोग आपको 'स्याद्वादविद्याग्रगुरु +', स्याद्वादविद्याधिपति' 'स्याद्वादशरीर'‡ और 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'† जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं। परन्तु इसे भी रहने दीजिये, ७वीं

* भट्टाकलंकदेवने भी समंतभद्रको स्याद्वादमार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है। साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' (भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलंकमनिन्द्यवन्द्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्॥

—अष्टशती।

श्रीविद्यानंदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें, 'स्याद्वादमार्गानुगैः' विशेषणके द्वारा, आपको स्याद्वादमार्गका अनुगामी लिखा है।

+ लघुसमन्तभद्रकृत 'अष्टसहस्री-विषमपद-तात्पर्यटीका'।

‡ वसुनन्द्याचार्यकृत 'देवागमवृत्ति'।

† श्रीविद्यानन्दाचार्यकृत 'अष्टसहस्री'।

शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टाकलंकदेव जैसे महान्‌* आचार्य लिखते हैं कि 'आचार्य समन्तभद्रने संपूर्णपदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। यथा—

तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्वविषय-स्याद्वादपुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥

यह पद्य भट्टाकलंककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टाकलंकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारम्भ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञारूपसे दिया है। इसमें समन्तभद्र और उनके वाङ्मयका जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। समन्तभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित किया. इस परिचयके 'कलिकालमें' ('काले कलौ') शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं और उनसे दो अर्थोंकी ध्वनि निकलती है—एक तो यह कि, कलिकालमें स्याद्वादतीर्थको प्रभावित करना बहुत कठिन कार्य था, समन्तभद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्रायः नहीं हो सकता था अथवा नहीं हो सका था; और दूसरा यह कि कलिकालमें समन्तभद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रभावना-महिमा या तो हुई नहीं थी, या वह होकर लुप्तप्राय हो चुकी थी और या वह कभी उतनी और उतने महत्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्वकी समन्तभद्रके द्वारा, उनके समयमें, हो सकी है। पहले अर्थमें किसीको प्रायः कुछ भी विवाद नहीं हो सकता—कलिकालमें जब कलुषाशयकी वृद्धि हो जाती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रचलित होना कठिन हो ही जाता है—स्वयं समन्तभद्राचार्यने,

* नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६वें शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलंकदेवको 'महर्द्धिक' लिखा है। यथा—

जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः॥

यह सूचित करते हुए कि महावीर भगवानके अनेकान्तात्मक शासनमें एकाधिपति-त्वरूप-लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्ति है, कलिकालको भी उस शक्तिके अपवाद-का—एकाधिपत्य‡ प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है। यद्यपि, कलि-काल उसमें एक साधारण§ बाह्य कारण है, असाधारणकारकेरूपमें उन्होंने श्रोताओं का कलुषित आशय (दर्शनमोहाक्रान्त-चित्त) और प्रवक्ता (आचार्यादि) का वचनानय (वचनका अप्रशस्त निरपेक्ष* नयके साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिकाल उस शासनप्रचारके कार्यमें कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी सिद्धिको कठिन और जटिल बना देनेवाला—जरूर है। यथा—

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समन्तभद्र एक महान् प्रवक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिल्कुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे; विकार-हेतुओंके समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या क्रोध नहीं आता था—और इस-लिये उनके वचन कभी मार्गका उल्लंघन नहीं करते थे। उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्रबल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अंशोंमें बदल दिया था। यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित करनेमें बहुत

‡ 'एकाधिपतित्वं सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वम्'—इति विद्यानन्दः ।

'सभी जिसका अवश्य आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेको एकाधि-पतित्व या एकाधिपत्य कहते हैं।'

§ अपवादहेतुर्बाह्यः साधारणः कलिरेव कालः—इति विद्यानन्दः ।

* जो नय परस्पर अपेक्षारहित हैं वे मिथ्या हैं और जो अपेक्षासहित हैं वे सम्यक् अथवा वस्तुतत्त्व कहलाते हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' —देवागम ।

कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष बाधा नहीं डाल सका। वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो आपके मतकी—शासनकी—वंदना और स्तुति करते हुए यहाँ तक लिखा है कि उस शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समन्तभद्रमुनिके शासन-कालमें यह मालूम नहीं होता था कि आजकल कलिकाल बीत रहा है। यथा—

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणायविधृतं छत्रं यथा भासुरं।
सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परं
वन्दे तद्धतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥२॥

—देवागमवृत्ति

इस पद्यमें समन्तभद्रके 'मत' को, लक्ष्मीभृत् परम निर्वाणसौख्यप्रद हत-कालदोष और अमल आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, जो देदीप्यमान छत्रकी उपमा दी गई है वह बड़ी ही हृदयग्राहिणी है, और उससे मालूम होता है कि समन्तभद्रका शासनछत्र सम्यग्ज्ञानों,सुनयों तथा सुयुक्तियों रूपी मुक्ताफलों-से संशोभित है और वह उसे धारण करनेवालेके कुज्ञानरूपी आतापको मिटा देने वाला है। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि समन्तभद्रका स्याद्वादशासन बड़ा ही प्रभावशाली था। उसके तेजके सामने अवश्य ही कलिकालका तेज मन्द पड़ गया था, और इसलिये कलिकालमें स्याद्वाद तीर्थको प्रभावित करना, यह समन्तभद्रका ही एक खास काम था।

दूसरे अर्थके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा मालूम होता है कि समन्तभद्रसे पहले स्याद्वादतीर्थकी महिमा लुप्तप्राय हो गई थी, समन्त-भद्रने उसे पुनः संजीवित किया है, और उसमें असाधारण बल तथा शक्तिका संचार किया है। श्रवणबेल्गोलके निम्न शिलावाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

"आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः" ॥
—५४ वाँ शिलालेख ।

इसके सिवाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनड़ी शिलालेख ※ नं० १४९ में, जो शक सं० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी बाबत यह उल्लेख मिलता है कि वे श्रुतकेवलि-संतानको उन्नत करनेवाले और समस्त-विद्याओंके निधि थे।' यथा—

श्रुतकेवलिगलु पलवरुम् अतीतर् आद् इम्बलिक्के तत्सन्तानो-
न्नतियं समन्तभद्र-व्रतिपर् तलेन्दरु समस्तविद्यानिधिगल् ॥

और बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख※ नं० १७ में भी, जो रामानुजाचार्य मंदिर के अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक सं० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए। यथा—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरु श्रुति-केवलिगलु पलरु सिद्धसाध्यर् आगे तत........र्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगलु सन्दर"‡........।

इन दोनों उल्लेखोंसे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति करनेवाले हुए हैं। नगर ताल्लुकेके ३५वें †शिलालेखमें, भद्रबाहुके बाद कलिकालके प्रवेशको सूचित करते हुए, आपको 'कलिकालगणधर' और 'शास्त्रकर्त्ता' लिखा है:—

※, ※ देखो 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' जिल्द पाँचवीं (E.C.,V.)

‡ इस अंशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose.

† यह शिलालेख शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है (E.C., VIII.)

"....भद्रबाहुस्वामि गलिंद् इत्तकलिकाल वर्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिंकलिकालगणधरु शास्त्रकर्त्तुगलुम् एनिसिद समन्त-भद्रस्वामिगल्।"

समन्तभद्रने जिस स्याद्वादशासनको कलिकालमें प्रभावित किया है उसे भट्टाकलंकदेवने, अपने उक्त पद्यमें, 'पुण्योदधि' की उपमा दी है। साथ ही, उसे 'तीर्थ' लिखा है और यह प्रकट किया है कि वह भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेवाला है और इसी उद्देश्यसे प्रभावित किया गया है। भट्टाकलंकका यह सब लेख समन्तभद्रके उस वचनतीर्थको लक्ष्य करके ही लिखा गया है जिसका भाष्य लिखनेके लिये आप उस वक्त दत्तावधान थे और जिसके प्रभावसे 'पात्रकेसरी'* जैसे प्रखर तार्किक विद्वान् भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं।

भट्टाकलंकके इस सब कथनसे समन्तभद्रके वचनोंका अद्वितीय माहात्म्य प्रकट होता है। वे प्रौढत्व, उदारता और अर्थगौरवको लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महिमासे सम्पन्न थे। इसीसे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने आपके वचनोंकी महिमाका खुला गान किया है। नीचे उसीके कुछ नमूने और दिये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको समंतभद्रके वचनमाहात्म्यको समझने और उनके गुणोंका विशेष अनुभव प्राप्त करनेमें और भी ज्यादह सहायता मिल सकेगी। साथ ही, यह भी मालूम हो सकेगा कि समंतभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्रायः ठीक ही है—

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्थाद्-
उद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं।
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोदः
प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताऽशेषमिथ्याप्रवादं ॥—अष्टसहस्री

इस पद्यमें, विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्

---

* आप पहले अजैन थे, 'देवागम' को सुनकर आपकी श्रद्धा बदल गई और आपने जैनदीक्षा धारण की।

श्रीविद्यानन्द आचार्य, स्वामी समंतभद्रके वचनसमूहका जयघोष करते हुए लिखते हैं कि स्वामीजीके वचन नित्यादि* एकान्त गर्तों में पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ हैं जो उत्कृष्ट मंगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको ग्रथित करनेवाले हैं, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए हैं अथवा प्रेक्षावान् ‡—समीक्ष्यकारी—आचार्यमहोदयके द्वारा उनकी प्रवृत्ति हुई है, और उन्होंने संपूर्ण मिथ्या-प्रवाद-को विघटित—तितर बितर—कर दिया है।

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
द्विद्यानंदोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय ।
स्ताद्‌गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा ॥

—अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें वे ही विद्यानंद आचार्य यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्रकी वाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है

---

*वस्तु सर्वथा नित्य ही है—कूटस्थवत् एकरूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते हैं और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' वाद कहलाता है। 'देवागम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है।

‡ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है। युक्त्यनुशासन—टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानंदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' (परीक्षादृष्टि) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै—
विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥

जो बड़े बड़े बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य ※ है, वह अपने तेजसे सूर्यकी किरणको जीतनेवाली सप्तभंगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव-अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयांधकारको दूर करनेवाली है। साथ ही, अपने पाठकोंको यह आशीर्वाद देते हैं कि वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनंतसुख) के उदयके लिये निरंतर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे संपूर्ण क्लेश नाशको प्राप्त हो जायँ। यहां 'विद्यानन्दोदयाय' पदसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और उससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रकी वाणी विद्यानंदाचार्यके उदयका कारण हुई है और इसलिये उसके द्वारा उन्होंने अपने और उदयकी भी भावना की है।

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ।
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥
अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः ॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद-जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, विद्यानन्दमहोदय और श्लोकवार्तिक आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है, निर्मलमति श्रीसमंतभद्र-मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारसे गुणगान किया है और उसे अलंघ्यवीर्य, स्यात्काररूप अमोघमंत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध-सद्ध्यानधीरा†, उद्भूतमुद्रा ‡, (ऊँचे आनन्दको देनेवाली), एकान्तरूपी

※ अथवा समन्तभद्रकी भारती बड़े बड़े बुद्धिमानोंके द्वारा प्रपूजित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है।

† *'ध्यानं परीक्षा तेन धीराः स्थिराः'* इति टिप्पणकारः ।

‡ 'उद्भूतां मुदं शान्ति ददातीति (उद्भूतमुद्राः) इति टिप्पणकारः ।

प्रबल गरल (विष) के उद्रेकको दलनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूप अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है। साथ ही, वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सब ओरसे मंगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होवे, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये हैं।

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह-नियतः सर्वथा-कारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्माननूयादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः ॥

अष्टसहस्रीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समंतभद्र) सदा जयवंत रहें जो बहुत प्रसिद्ध मुनिराज हैं, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा विशाल है और जिनके नयप्रमाणमूलक अलंध्य उपदेशसे वे महाउद्धतमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं।

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानंदघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गप्रणीः ॥

अष्टसहस्रीके इस अन्तिम† मंगलपद्यमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने, संक्षेपमें, समन्तभद्र-विषयक अपने जो उद्गार प्रकट किये हैं वे बड़े ही महत्वके हैं। आप

† अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें जो मंगल पद्य दिया है उसमें समन्तभद्रको 'श्री वर्द्धमान', 'उद्भूतबोधमहिमान्' और 'अनिन्द्यवाक्' विशेषणोंके साथ अभिवन्दन किया है। यथा—

श्रीवर्द्धमानमभिवंद्यसमंतभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयाऽस्य ॥

लिखते हैं कि 'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये संपूर्ण कुनीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोषनीति (स्याद्वादन्याय) को लिये हुए होनेकी वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी, विभु और भानुमान् (तेजस्वी) श्रीसमन्तभद्रस्वामी कलुषाशयरहित प्राणियोंको विद्या और आनंदघनके प्रदान करनेवाले होवें।' इससे स्वामी समंतभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व ख्यापित होता है।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥ ६॥

—चन्द्रप्रभचरित।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समंतभद्रकी भारती (वाणी)-को उस हारयष्टि (मोतियोंकी माला) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों (सूतके धागों) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठका विभूषण बनी हुई हैं, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त* रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका आभूषण बनाया है। साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समंतभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयंगम कर लेना—और इससे स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समंतभद्रके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य है। तथा परिश्रमसे होता है।

श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य भी, अपने 'सिद्धान्तसारसंग्रह' में, ऐसा ही भाव प्रकट करते हैं। आप समंतभद्रके वचनको 'अनघ' (निष्पाप) सूचिन करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ बतलाते हैं। यथा—

श्रीमत्समंतभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघं।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः॥ ११॥

शक संवत् ७०५ में 'हरिवंशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनेसेनाचार्यने समंतभद्रके वचनोंको किस कोटिमें रक्खा है और उन्हें किस महा-

* वृतान्त, चरित, आचार, विधान अथवा छन्द।

पुरुषके वचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धि-विधायीह कृत-युक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ ३० ॥

इस पद्यमें जीवसिद्धिका विधान करनेवाले और युक्तियोंद्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करनेवाले समंतभद्रके वचनोंकी बावत यह कहा गया है कि वे वीर भगवानके वचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवानके वचनोंके समकक्ष हैं और प्रभावादिकमें भी उन्हींके तुल्य हैं। जिनसेनाचार्यका यह कथन समंतभद्रके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रन्थोंके उल्लेखको लिये हुए है, और इससे उन ग्रन्थों (प्रवचनों) का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितं ।
जीयात्समंतभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

—युक्त्यनुशासनटीका ।

इस पद्यमें श्रीविद्यानंदाचार्य, समंतभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रका जय-घोष करते हुए, उसे 'अबाधित' विशेषण देते हैं और साथ ही यह सूचित करते हैं कि उसमें प्रमाण-नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय किया गया है।

* स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ।
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः ॥

—पार्श्वनाथचरित ।

---

* माणिकचंद्रग्रन्थमालामें प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में इन दोनों पद्योंके मध्यमें नीचे लिखा एक पद्य और भी दिया है, जिसके द्वारा बादिराजने समंत-भद्रको अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा वंदनीय और अचिन्त्य-महिमावाला देव प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रन्थका उल्लेख किया है—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥

इन पद्योंमें, 'पार्श्वनाथचरितको शक सं० ९४७ में बनाकर समाप्त करने-वाले श्रीवादिराजसूरि, समंतभद्रके 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' नामके दो प्रवचनों (ग्रन्थों) का उल्लेख करते हुए, लिखते हैं कि 'उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयावह (आश्चर्यजनक) नहीं हैं जिन्होंने 'देवागम' के द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। निश्चयसे वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) त्यागी (दाता) हुए हैं जिन्होंने भव्यसमूहरूपी याचकको अक्षय सुखका कारण रत्नोंका पिटारा (रत्नकरंडक) दान दिया है'।

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः॥

—पाण्डवपुराण

इस पद्यमें श्रीशुभचंद्राचार्य लिखते हैं कि "जिन्होंने 'देवागम' नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमको—जिनेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है वे 'भारतभूषण' और 'एक मात्र भद्रप्रयोजनके धारक' श्रीसमन्तभद्र लोकमें प्रकाशमान होवें, अर्थात् अपनी विद्या और गुणोंके द्वारा लोगोंके हृदयान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होवें।"

समन्तभद्रकी भारतीका एक स्तोत्र, हालमें, मुझे दक्षिण देशसे प्राप्त* हुआ है। यह स्तोत्र कवि नागराज† का बनाया हुआ और अभीतक प्रायः अप्रकाशित ही जान पड़ता है। यहाँ पर उसे भी अपने पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये दे देना उचित समझता हूँ। वह स्तोत्र इस प्रकार है—

सास्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीं,
तंतनीमि पापठीमि बंभणीमि तेऽमलां।

---

* इसकी प्राप्तिके लिये मैं उन पं० शांतिराजजीका आभारी हूँ जो कुछ अर्से तक 'जैनसिद्धान्तभवन आरा' के अध्यक्ष रह चुके हैं।

† 'नागराज' नामके एक कवि शक संवत् १२५३ में हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटककविचरित' से मालूम होता है। बहुत संभव है कि यह स्तोत्र उन्हींका बनाया हुआ हो; वे 'उभयकविताविलास' उपाधिसे भी युक्त थे। उन्होंने उक्त सं० में अपना 'पुण्यास्रवचम्पू' बना कर समाप्त किया है।

देवराजनागराजमर्त्यराजपूजितां
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचरां ॥ १ ॥
मातृ-मान-मेयसिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे,
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचरां ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीं ॥ २ ॥
सूरिसूक्तिवंदितामुपेयतत्त्वभाषिणीं,
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीं ।
पूर्वपक्षखंडनप्रचण्डवाग्विलासिनीं
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीं ॥ ३ ॥
पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणीं स्तुवे,
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।
गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकां
सिद्धि-सौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीं ॥ ४ ॥
इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां,
वर्द्धमानदेवबोद्धबुद्धचिद्विलासिनीं,
योगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीं ॥ ५ ॥
मान-नीति-वाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचरां
मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीं ।
घोरभूरिदुःखवार्धितारणक्षमामिमां
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥
सान्तसाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां
शून्यभावसर्ववेदि-तत्त्वसिद्धिसाधनीं ।
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥
व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां
पापहारि-वाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ।

श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

इस 'समन्तभद्रभारतीस्तोत्र' में, स्तुतिके साथ, समन्तभद्रके वादों, भाषणों और ग्रंथोंके विषयका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही, यह सूचित किया गया है कि समन्तभद्रकी भारती आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा वंदित, मनोहर कीर्तिसे देदीप्यमान और क्षीरोदधिके समान उज्ज्वल तथा गम्भीर है; पापोंको हरना, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रको दूर करना ही उस वाग्देवी-का एक आभूषण और वाग्विलास ही उसका एक वस्त्र है; वह घोर दु:खसागर-से पार करनेके लिये समर्थ है, सर्व सुखोंको देनेवाली है और जगतके लिये हितरूप है *।

यह मैं पहले ही प्रकट कर चुका हूं कि समन्तभद्रकी जो कुछ वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्राय: दूसरोंके हितके लिये ही होती थी; यहाँ भी इस स्तोत्रसे वही बात पाई जाती है, और ऊपर दिये हुए दूसरे कितने ही आचार्योंके वाक्यों-से भी उसका पोषण तथा स्पष्टीकरण होता है। अस्तु, इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समन्तभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये। उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वत: हो जायगा। समन्तभद्रके ग्रन्थोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके—कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्तिको हटाकर—जगतका हित साधन करना है। समन्तभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

यह 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थका पद्य है। इसमें, ग्रंथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह 'आप्तमीमांसा' उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना

* इस स्तोत्रके पूरे हिन्दी अनुवादके लिये देखो, 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' जो वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुआ है।

हित चाहते हैं। ग्रन्थकी कुछ प्रतियोंमें 'हितमिच्छतां' की जगह 'हितमिच्छता' पाठ भी पाया जाता है। यदि यह पाठ ठीक हो तो वह ग्रन्थरचयिता समन्तभद्र-का विशेषण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमांसा हित चाहनेवाले समन्तभद्रके द्वारा निर्मित हुई है; बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है—दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेष बोध करानेके लिये ही लिखा गया है।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः॥

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रका, अन्तिम पद्यसे पहला, पद्य है। इसमें आचार्यमहोदयने बड़े ही महत्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप श्रीवर्द्धमान (महावीर) भगवान्को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र-रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका स्पष्टाशय§ इस प्रकार है—

(हे वीर भगवन्!) हमारा यह स्तोत्र आप जैसे भवपाशछेदक मुनिके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है; क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्र-का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ-उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो

§ इस स्पष्टाशयके लिखनेमें श्रीविद्यानंदाचार्यकी टीकासे कितनी ही सहायता ली गई है।

लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ, कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भवपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी इष्ट है और इस लिये वह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उपपत्तिका एक हेतु है।'

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका प्रणयन—उनके वचनोंका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है। वह आचार्यमहोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं। साथ ही, यह भी प्रकट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य महान् है, लोकहितको लिये हुए है, और उनका प्रायः कोई भी विशेष कथन गुणदोषोंकी अच्छी जाँचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता।

यहां तकके इस सब कथनसे ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्र अपने इन सब गुणोंके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी अनन्यसाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था। निःसन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यशःकान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था, जैसा कि श्रीवसुनन्दी आचार्यके निम्न वाक्यसे पाया जाता है—

> समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं।
> निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं ॥२॥
>
> —जिनशतकटीका।

अपने इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समंतभद्र लोकमें 'स्वामी' पदसे खास तौर पर विभूषित थे। लोग उन्हें 'स्वामी' 'स्वामीजी' कहकर ही पुकारते थे, और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उन्हें प्रायः इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है। यद्यपि और भी कितने ही आचार्य 'स्वामी' कहलाते थे परन्तु उनके साथ यह विशेषण उतना रूढ नहीं है जितना कि समंतभद्रके साथ रूढ *जान पड़ता है—समंतभद्रके नामका तो यह प्रायः एक अंग ही बन गया है।* इसीसे कितने ही महान् आचार्यों तथा विद्वानोंने अनेक स्थानों पर नाम न देकर,

केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही आपका नामोल्लेख किया है* और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी 'स्वामी' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी। निःसंदेह यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, ऋषिमुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे।

भावी तीर्थंकरत्व

समन्तभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें दिन रात उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी; उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था; वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें 'विश्वप्रेम' जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योगपरिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निःसीम तथा सर्वातिशायि† पुण्यको संचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें 'तीर्थंकर' होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं। आपके 'भावी तीर्थंकर' होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

---

* देखो—वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरितं' नामका पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है, पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके 'स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेन त्विमे (अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका 'तदुक्तं स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ 'देवागम' की दो कारिकाओंका अवतरण, और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य जिनमेंसे 'नित्याद्येकान्त' आदि कुछ पद्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं।

† "सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्।" —श्लोकवार्तिक

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥ —विक्रान्तकौरव प्र०

श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥

—जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थंकर-परम-देवेन—'काले कल्पशतेऽपि च' (इत्यादि 'रत्नकरंड' का पूरा पद्य दिया है।)

—श्रुतसागरकृत-षट्प्राभृतटीका

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनां।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी।

—नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोश।

आ भावि तीर्थकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु (राजावलिकथे)

*अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्किचउक्कं च एय बलभद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण † ॥

श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके निर्वाणके बाद सैंकड़ों ही अच्छे अच्छे महात्मा आचार्य तथा मुनिराज यहाँ हो गये हैं परंतु उनमेंसे दूसरे किसी भी आचार्य तथा मुनिराजके विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे आगेको इस देशमें

---

* इस गाथामें लिखा है कि—आठ नारायण, नौ प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक और समन्तभद्र ये (२४ पुरुष आगेको) नियमसे तीर्थंकर होंगे।

† यह गाथा कौनसे मूलग्रन्थकी है, इसका अभीतक मुझे कोई ठीक पता नहीं चला। पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने इसे स्वयंभूस्तोत्रके उस संस्करणमें उद्धृत किया है जिसे उन्होंने संस्कृतटीका तथा मराठीअनुवादसहित प्रकाशित कराया है। मेरे दर्याफ़्त करने पर पंडितजीने सूचित किया है कि यह गाथा 'चर्चासमाधान' नामक ग्रंथमें पाई जाती है। ग्रन्थके इस नाम परसे ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह गाथा उद्धृत ही होगी और किसी दूसरे ही पुरातन ग्रंथकी जान पड़ती है।

'तीर्थंकर' होंगे। भारतमें 'भावी तीर्थंकर' होने का यह सौभाग्य, शलाका पुरुषों तथा श्रेणिक राजाके साथ, एक समंतभद्रको ही प्राप्त है और इससे समंतभद्रके इतिहासका—उनके चरित्रका—गौरव और भी बढ़ जाता है। साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि आप १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनतिचार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे प्रायः युक्त थे—इनकी उच्च गहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भावित था—क्योंकि दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्तरूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामक 'नामकर्म'-की महापुण्यप्रकृतिके आस्रवके कारण कहे गये हैं *। इन गुणोंका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रन्थोंमें विशदरूपसे दिया हुआ है, इसलिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ, समंतभद्रकी 'अर्हद्भक्ति' बहुत बढ़ी चढ़ी थी, वह बड़े ही उच्चकोटिके विकासको लिये हुए थी। उसमें अंधश्रद्धा अथवा अंधविश्वासको स्थान नहीं था, गुणज्ञता गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष थी। अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समंतभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस बातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुतिशतक' (स्तुतिविद्या) के अन्तमें लिखते हैं—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।

---

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४वाँ सूत्र, और उसके 'श्लोकवार्तिक' भाष्यका निम्न पद्य—

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः॥

सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन † है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान) हूँ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थंकर होनेके योग्य पुण्य संचय कर सके हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा है और यह बिल्कुल ठीक है। समंतभद्रके जितने भी ग्रन्थ पाये जाते हैं उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष सब ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समंतभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'जिनस्तुतिशतक' के सिवाय देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र, ये आपके खास स्तुतिग्रंथ हैं।

---

† समंतभद्रके इस उल्लेखसे ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रन्थ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुतिग्रन्थों—का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था। आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू नामके स्तोत्र इस ग्रन्थसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समंतभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों।

इन ग्रंथोंमें जिस स्तोत्रप्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समंतभद्रसे पहलेके ग्रंथोंमें प्राय: नहीं पाई जाती अथवा बहुत ही कम उपलब्ध होती है। समंतभद्रने, अपने स्तुतिग्रंथोंके द्वारा, स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार तथा संस्कार किया है और इसी लिये वे 'स्तुतिकार' कहलाते थे। उन्हें **'आद्य स्तुतिकार'** होनेका भी गौरव प्राप्त था। श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहेमचंद्रने भी अपने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' व्याकरणके द्वितीय-सूत्रकी व्याख्यामें **"स्तुतिकारोऽप्याह"** इस वाक्यके द्वारा आपको 'स्तुतिकार' लिखा है और साथ ही आपके 'स्वयंभूस्तोत्र' का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

> नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना† इमे रसोपविद्धा इव लोहधातव:।
> भवन्त्यभिप्रेतफला‡ यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण: ॥

इसी पद्यको श्वेताम्बराग्रणी श्री**मलयगिरिसूरि**ने भी, अपनी 'आवश्यकसूत्र' की टीकामें, **'आद्यस्तुतिकारोऽप्याह'*** इस परिचय-वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समन्तभद्रको **'आद्यस्तुतिकार'**—सबसे प्रथम अथवा सबसे श्रेष्ठ स्तुतिकार—सूचित किया है। इन उल्लेखवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि समन्तभद्रकी 'स्तुतिकार' रूपसे भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसीलिये 'स्तुतिकार'के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत नहीं समझी गई।

समन्तभद्र इस स्तुतिरचनाके इतने प्रेमी क्यों थे और उन्होंने क्यों इस मार्गको अधिक पसंद किया, इसका साधारण कारण यद्यपि, उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है; परन्तु यहाँ पर मैं उन्हींके शब्दोंमें इस विषय-

---

†,‡ सनातन जैनग्रंथमालामें प्रकाशित 'स्वयंभूस्तोत्र' में और स्वयंभूस्तोत्रकी प्रभाचंद्राचार्यविरचित-संस्कृतटीकामें 'लांछना इमे' की जगह 'सत्यलाञ्छिता:' और 'फला:' की जगह 'गुणा:' पाठ पाया जाता है।

* इस पर मुनि जिनविजयजी अपने 'साहित्यसंशोधक' के प्रथम अंकमें लिखते हैं—"इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये (समन्तभद्र) प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे, इतना ही नहीं परन्तु आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मान प्राप्त थे।"

को कुछ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हें किस महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे। आप अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में लिखते हैं—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी स्तुति कुशलपरिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशलपरिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब, हे सर्वदा अभिपूज्य नमिजिन ! ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा।

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्र इन अर्हत्स्तोत्रोंके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें 'जन्मारण्यशिखी'†—जन्ममरणरूपी संसार-वनको भस्म करनेवाली अग्नि—तक लिखा है और ये उनकी उस निःश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे। इसी लिये उन्होंने इन 'जिन-स्तुतियों' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था। यही वजह थी कि संसारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई बाधक नहीं था, वह नाशरहित थी। 'जिनस्तुतिशतक' के निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतो‡ऽपिनोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा* ।

---

† 'जन्मारण्यशिखी स्तवः' ऐसा 'जिनस्तुतिशतक' में लिखा है ।

‡ "येषां नन्तुः (स्तोतुः) मुदा (हर्षेण) वन्दीभूतवतोऽपि (मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम) नोन्नतिहतिः (न उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं)" —इति तट्टीकायां वसुनन्दी ।

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रन्थमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

इसमें, थोड़े ही शब्दों-द्वारा, अर्हद्भक्तिका अच्छा माहात्म्य प्रदर्शित किया है—यह बतलाया है कि 'हे नाथ, जिस प्रकार लोहा स्पर्शमणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज अजाता है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशद) ज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत तथा गम्भीर हो जाता है।'

मालूम होता है समन्तभद्र अपनी इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण ही अर्हद्भक्ति में सदा लीन रहते थे और यह उनकी इस भक्तिका ही परिणाम था जो वे इतने अधिक ज्ञानी तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके वचन अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको लिये हुए थे।

समन्तभद्रका भक्तिमार्ग उनके स्तुतिग्रन्थोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी *एकान्तता तो उनके पास भी नहीं फटकती थी। वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हन्तदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुति

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ।।११५।।

* जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे 'देवागम'में एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—

"न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।"

का विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा, एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है। अर्हन्तदेवने अपने न्यायवाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उसके प्रतिषेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य-विभूतिके सम्राट् बने हैं, इसीलिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं कि 'आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं'। यथा—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५५॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इससे समन्तभद्रकी साफ़ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि (१) एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध करना और (२) मोह-शत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो उनके जीवनके खास उद्देश्य थे। समन्तभद्र अपने इन उद्देश्योंको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं। यद्यपि वे अपने इस जन्ममें कैवल्यविभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परन्तु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः सम्पूर्ण योग्यताओंका सम्पादन कर लिया है, यह कुछ कम सफलता नहीं है—और इसीलिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर प्रकट किया जा चुका है। केवलज्ञान न होने पर भी, समन्तभद्र उस स्याद्वादविद्याकी अनुपम विभूतिसे विभूषित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्वतत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमें तथा केवलज्ञानमें साक्षात्-असाक्षात्का ही भेद माना गया है *। इसलिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बन्धमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके कितने ही अवतरणों तथा समन्तभद्रके ग्रन्थोंसे बहुत कुछ हो जाता है। यही वजह है कि श्री**जिनसेनाचार्य**-ने आपके वचनोंको केवली भगवान महावीरके वचनोंके तुल्य प्रकाशमान लिखा है और दूसरे भी कितने ही प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोंने आपकी

---

* यथा—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

—आप्तमीमांसा।

विद्या और वाणीकी प्रशंसामें खुला गान किया है + ।

यहाँ तकके इस संपूर्ण परिचयसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और इसमें जरा भी संदेह नहीं रहता कि समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े महात्मा थे, समर्थ विद्वान् थे, प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वादविद्याके नायक थे, एकांत पक्षके निर्मूलक थे, अबाधितशक्ति थे, 'सातिशय योगी' थे, सातिशय वादी थे, सातिशय वाग्मी थे, श्रेष्ठकवि थे, उत्तम गमक थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशांत थे, गंभीर थे, भद्रप्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हितमित-भाषी थे, लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोंसे वंद्य थे, बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे ।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान्* समंतभद्र स्वामीके विषयमें श्रीशिवकोटि आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' में जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासनसमुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और मुझे बड़ी प्यारी मालूम देती है। निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य हैं कि उन्हें निरन्तर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये मैं शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनंदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँ पर उद्धृत करता हूँ—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥

+ श्वेताम्बर साधु मुनिश्री जिनविजयजी कुछ थोड़ेसे प्रशंसा - वाक्योंके आधार पर ही लिखते हैं—"इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो ।"—जैनसाहित्यसंशोधक १ ।

* श्रीविद्यानंदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमें कई बार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है ।

समन्तभद्रका मुनि-जीवन और आपत्काल

श्रीअलंकदेव, विद्यानंद और जिनसेन-जैसे महान् आचार्यों तथा दूसरे भी अनेक प्रसिद्ध मुनियों और विद्वानोंके द्वारा किये गये जिनके उदार स्मरणों एवं प्रभावशाली स्तवनों-संकीर्तनोंको पाठक इससे पहले आनंदके साथ पढ़ चुके हैं और उन परसे जिन आचार्य महोदयकी असाधारण विद्वत्ता, योग्यता, लोक-सेवा और प्रतिष्ठादिका कितना ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं, उन स्वामी समंत-भद्रके बाधारहित और शान्त मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समंतभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनिजीवनकी झाँकी सहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है।

मुनि जीवन

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे, ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालन-द्वारा उन्हें निरन्तर पुष्ट बनाते थे, पाँचों इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसीलिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्राऽवस्थामें एक कर्वटसे दूसरी कर्वट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीवजंतुको बाधा पहुँच जाय, वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते-धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकांत स्थानमें क्षेपण करते थे। इसके सिवाय, उनपर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी

नहीं रखते थे, जंगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा डंसमशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे बलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्यानावस्थामें अपने शरीरपर होने वाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे। वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें ज़रा भी दोष नहीं देते थे।

समंतभद्र सत्यके बड़े प्रेमी थे, वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं बल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे, और कितनी ही बार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे। स्त्रियोंके प्रति आपका अनादरभाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे; बल्कि माता, बहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे। साथ ही, मैथुनकर्मसे, घृणात्मक ❀ दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे। इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे ‡ और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होता हो उसी-के द्वारा उस अहिंसाकी पूर्णसिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका

❀ आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणसे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंड' में दिया है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सं।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

‡ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्धचर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११९॥

—स्वयंभूस्तोत्र।

त्याग किया था और नैर्ग्रंथ्य-आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौड़ी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौड़ी-पैसेसे सम्बन्ध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमंडलु), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक) के रूपमें जो कुछ थोड़ीसी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय, आपको इसकी जरा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी संस्कारित अथवा मंडित नही करते थे, यदि पसीना आकर उस पर मैल जम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलारूप दिखानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे, बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्यभावसे जीतकर कर्ममलको धोनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे। इसीसे आपने अपने एक परिचय * में गौरवके साथ अपने आपको 'नग्नाटक' और 'मलमलिनतनु' भी प्रकट किया है।

समंतभद्र दिनमें सिर्फ एक बार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे। वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने-करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें यह मालूम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि (मेहमान) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे। उन्हें उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष मालूम पड़ता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनद्वारा दूर रखना चाहते थे। वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये

* 'कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुः' इत्यादि पद्यमें।

ही तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अंश उन्हें भक्तिपूर्वक भेंट करके शेषमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोबारा आरंभ करनेकी कोई ज़रूरत न हो। आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे। भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेंसे उन्हें कोई भी दोष मालूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्तपर ज़रा भी मैल नहीं लाते थे। इसके सिवाय, आपका भोजन परिमित और सकारण होता था। आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परंतु आप उसमे अक्सर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि बिना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे; अपनी शक्तिको जाँचने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप अक्सर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्तिपर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समंतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधनमात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी सिद्धि, वृद्धि तथा स्थिति-का सहायकमात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारीरिक बलको बढ़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था। वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्रायः बिना चबाये ही—बिना उसका रसास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको क़ायम रखनेके उद्देशसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी ज़रूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी ज़रूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इन्द्रियविषय पुष्ट होता है, इन्द्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उल्टी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णारोगकी वृद्धि निरंतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव

संसारमें अनेक प्रकारकी दुःखपरम्परासे पीड़ित होता है ‡, इसलिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इन्द्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कलंक और अधर्मकी बात समझते थे। आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिकस्वास्थ्य—अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्मविमुक्त-अनंतज्ञानादिमय-अवस्थाकी प्राप्ति—ही पुरुषोंका—इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—क्षणस्थायी विषयसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है; क्योंकि तृषानुषंगसे—भोगों की उत्तरोत्तर आकांक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी कभी शांति नहीं होती। वे समझते थे कि, यह शरीर 'अजंगम' है—बुद्धिपूर्वक परिस्पंदव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है; साथ ही, 'मलबीज' है—मलसे उत्पन्न हुआ है; मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है; 'गलन्मल' है—मल ही इससे झरता है; 'पूति' है—दुर्गन्धियुक्त है; 'बीभत्स' है—घृणात्मक है; 'क्षयि' है—नाशवान् है—और 'तापक' है–आत्माके दुःखोंका कारण है। इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे *। अपनी ऐसी ही विचारपरिणतिके कारण समंतभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और

‡ शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥१३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः॥३१॥
अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूति गन्धि बीभत्सं। पश्यन्नंगम्……
—रत्नकरण्ड

निर्ममत्व रहते थे—उन्हें भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हल्का-भारी, कडुआ-कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे, घंटों तक कायोत्सर्ग में स्थिर होजाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये †, अपनी शक्तिको न छिपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे। इसके सिवाय, नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रन्थरचना और परहित-प्रतिपादनादि कितने ही धर्मकार्योंमें खर्च होता था। आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

आपत्काल

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली'* ग्राममें धर्मध्यानसहित आनन्दपूर्वक अपना मुनि जीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्वसंचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें 'भस्मक' नामका एक महारोग उत्पन्न होगया ‡। इस रोगकी उत्पत्तिसे

† बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्यतपसः परिबृंहणार्थम् ।।८३।।
—स्वयंभूस्तोत्र।

* ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' में दिया है। यह 'कांची' के आस-पासका कोई गाँव जान पड़ता है।

‡ ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में, समन्तभद्रकथाके अन्तर्गत, ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान्।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ।।४।।
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुर्दुःखदायकः।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ।। ५ ।।

से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण होगया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गर्मी और तेजीसे जठराग्निको अत्यन्त प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता है और वह अग्नि, अपनी तीक्ष्णतासे, विरूक्ष शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यन्त तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात् गुरु, स्निग्ध शीतल मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ठ परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यन्त सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है *। इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुरूशुरूमें उसकी कुछ पर्वाह नहीं की। वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादि तपोंके अवसरपर जिस

* "कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात्।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून्।"
—इति भावप्रकाशः।

"नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे साऽनिलोऽनलः।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः॥
पक्त्वान्नं सततं धातून् शोणितादीन्पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातंकान् मृत्युं चोपनयेन्नरं॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांति जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः॥"
"तमेत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्वलैः।
अन्नपानैर्नयेच्छान्ति दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः॥"—इति चरकः।

प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी, पूर्व अभ्यासके बलपर, उसे सह लिया। परन्तु इस क्षुधा और उस क्षुधा-में बड़ा अन्तर था; वे इस बढ़ती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे; पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था; परन्तु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलनेपर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना आरम्भ कर देती थी। समन्तभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाके समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

"क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना।"

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसरपर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोबारा भोजन करना अथवा रोगोपशांतिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल, गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इसलिये समन्तभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे—'हे आत्मन्, तूने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नरक-पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है, उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो, परन्तु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिए उनसे कोई लाभ नहीं होसका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सब तेरे ही पूर्वकर्मका दुर्विपाक है। साम्य-भावसे वेदनाको सह लेनेपर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंको उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।' इस तरह पर समन्तभद्र अपने साम्यभावको दृढ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय, वे इस शरीरको

कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादि बाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी नित्यकी इच्छा तथा शक्तिपर निर्भर था—मूलगुणोंकी तरह लाजमी नहीं था—उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित कर दें। उन्होंने वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे; साथ ही रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिसायतें मिल सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको ज़रा भी शांति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी; जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीरका रस-रक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वलाएँ शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और नित्यका स्वल्प भोजन उनके लिये ज़रा भी पर्याप्त नहीं होता था—वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके अतिरिक्त 'यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज्यादा ग़ज़ब हो जाता था—क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समंतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परन्तु समन्तभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तरज्ञानी थे, संपत्ति-विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदुःखभावित नहीं था जो दुःखोंके आने पर क्षीण हो जाय *, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहनका अच्छा अभ्यास किया था, वे आनंदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हे सहते हुए खेद नहीं मानते

---

* अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ —समाधितन्त्र

थे ‡ और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे ज़रा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जा रही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है; साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई। आप सोचने लगे—"इस मुनि अवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छ्यालीस दोषों चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ इस भयंकर रोगकी शान्तिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती *। मुनिपदको क़ायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इसलिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्यागनेके लिये तय्यार हो जाना चाहिये; परन्तु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है ? जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मैं बड़े प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मैं छोड़ दूं ?

---

‡ जो आत्मा और देहके भेद-विज्ञानी होते हैं वे ऐसे कष्टोंको सहते हुए खेद नहीं माना करते, कहा भी है—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोपि न खिद्यते ॥ —समाधितन्त्र

* जो लोग आगमसे इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोंका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्डशुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हें यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये वैसे ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नहीं है; बल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्रायः एक कारण है—फिर 'भस्मक' जैसे रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है।

क्या क्षुधाकी वेदनासे घबराकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड़ दूं ? क्या इन्द्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूं ? यह नहीं हो सकता। क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इन्द्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी ? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा ? क्या मृत्यु नहीं आएगी ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या हैं ? उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है ? * मैं दुःखों-से बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोड़ूंगा; भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता; मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिये; मेरी परीक्षाका यही समय है, मैं मुनिधर्मको नहीं छोड़ूंगा।" इतनेमें ही अंतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज़ आई—"समंतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैन शासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे; यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था-द्वारा रोगको शान्त करकेफिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे ज़रा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हरदम तेरे साथ ही रहेगा; तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे, परंतु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि-जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौरपर ही स्वीकार कर; तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ़ रही है, अब उसे

---

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविषयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र' के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत' ॥१८॥

गौण क्यों किये देता है ? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्पकालके लिये मुनिपदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इससे तेरे चरित्र पर ज़रा भी कलंक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज़्यादा देदीप्यमान होगा; अतः तू कुछ दिनोंके लिये, इसमुनि-पदका मोह छोड़कर और मानापमानकी ज़रा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोग-को शांत करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है, इस रोगसे मुक्त होनेपर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा; अब विलम्ब करनेकी ज़रूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।"

इस तरह पर समन्तभद्रके हृदयमें कितनी ही देर तक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि "क्षुधादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है; लोकका हित वास्तवमें लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परन्तु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूंगा; इस समय लोकहितकी आशा पर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इसलिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत ज़रूर ले लेना चाहिये और मृत्यु-की प्रतीक्षामें बैठकर शान्तिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समन्तभद्र सल्लेखनाव्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेव* के पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारा-वस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है +, यह विनम्र प्रार्थना

---

* 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समन्तभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समन्तभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि उनका क्या नाम था।

+ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥ —रत्नकरंड

की कि—'अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।'

समन्तभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुनकर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समन्तभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली और फिर अपने योगबलसे मालूम किया कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है, इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं; यदि उसे सल्लेखनाकी इजाज़त दी गई तो वह अकालमें ही कालके गालमें चला जायगा और उससे श्री वीरभगवानके शासन-कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुंचेगी; साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समन्तभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा—'वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासन कार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है; इसलिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेषमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यन्त भोजन प्राप्त कर सको वहींपर खुशीसे चले जाओ और उसी वेषको धारण करलो, रोगके उपशान्त होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कामोंको सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसीलिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।'

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उस आवाज़को स्मरण करके समन्तभद्रको यह निश्चय हो गया कि इसीमें ज़रूर कुछ हित है, इसलिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समन्तभद्रको यह चिन्ता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन। अपने

मुनिवेषको छोड़नेका खयाल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—"जिस दूसरे वेषको मैं आज तक विकृत + और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा ? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है ?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है । उन्होंने स्पष्ट कहा है—'यही मेरी आज्ञा है,—चाहे जिस वेषको धारण करलो, रोगके उपशांत होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना, तब तो इसे अलंघ्य-शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये । यह ठीक है कि मैं वेष (लिंग) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नही जानता,—वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्माका संसार है; इसलिये मुझ मुमुक्षुका—संसार-बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता *; फिर भी मैं वेषके विकृत और अविकृत ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता हूँ । इसीसे, यद्यपि, उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी; परन्तु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूँगा न ? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा ! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है । अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी

+ ···ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ —स्वयंभूस्तोत्र

* श्रीपूज्यपादके समाधितंत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है । यथा—

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः ॥८७॥

अर्थात्—लिंग (जटाधारण-नग्नत्वादि) देहाश्रित है और देह ही आत्मा का संसार है, इसलिये जो लोग लिंग (वेष) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारबंधनसे नहीं छूटते ।

अब क्या है ? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता; मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूं परन्तु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े। मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ; और इसलिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा। मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता था, परन्तु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिए भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है जिससे, उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए, रोगोपशान्तिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इसलिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा। बिलकुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है। इसके सिवाय, मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाजत नहीं देती कि मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्ति-विशेपको कष्ट दूं; मैं अपने भोजनके लिए ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमें खास मेरे लिये किसीको भी भोजनका कोई प्रबन्ध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे।''

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद, आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा हीं करुणाजनक था। देहसे भस्मको मलते हुए आपकी आंखें कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आंखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावीकी अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिंतन कर रहे थे। समन्तभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमें भस्म और अंतरङ्गमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मालूम होता था कि

एक महाकांतिमान् रत्न कर्दमसे लिप्त होरहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ※, अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समन्तभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये यह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु। संघको अभिवादन करके अब समन्तभद्र एक वीर योद्धाकी तरह कार्यसिद्धिके लिए, 'मणुवकहल्ली' से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समन्तभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'कांची' पहुँचे और वहां 'शिवकोटि' राजाके पास, संभवतः उसके 'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया। धर्मकृत्योंका हाल पूछे जानेपर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिर-निर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग + परिमाण तंडुलान्न-विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया। इसपर समन्तभद्रने, यह कहकर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवेद्यको शिवार्पण † करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोंके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरम्भ कीं और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया।

※ अन्तःस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिंगकः।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥—आराधना कथाकोश।

+ 'खंडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णी नेमिसागरजीने, पं० शांतिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधारपर, यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रांतमें २०० सेरका, मैसूर प्रांतमें १८० सेरका, हेगडदेवन कोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खंडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास कांचीमें कितने सेरका खंडुग प्रचलित था। संभवतः वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

† 'शिवार्पण' में कितना ही गूढ अर्थसंनिहित है।

सम्पूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेंट किया; परन्तु पहले दिन प्रचुर परिमाणमें तृप्तिपर्यन्तभोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशांत होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समन्तभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको देवप्रसाद बतलाया; परन्तु राजाको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया तब राजाका संदेह बढ़ गया और उसने पाँचवें दिन मन्दिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजेको खोल डालने की आज्ञा दी।

दरवाजेको खोलनेके लिए बहुतसा कलकल शब्द होनेपर समंतभद्रने उपसर्ग का अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यन्त समस्त आहार पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिलकुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्र चित्तसे श्रीवृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति * करना आरंभ किया। स्तुति करते हुए, समन्तभद्रने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभस्वामीकी भले प्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की तो उन्हें उस स्थानपर, किसी दिव्यशक्तिके प्रतापसे, चन्द्रलांछनयुक्त अर्हन्त भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समंतभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें तल्लीन होगये।

दरवाजा खुलते ही इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन'-सहित, योगिराज श्रीसमंतभद्रको उद्दंड नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समंतभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-देह-भोगोंसे विरक्त होगया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर शिवायन-सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने ही लोगोंकी

* इसी स्तुतीको 'स्वयमभूस्तोत्र' कहते हैं।

श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक होगये ❀।

इस तरह समन्तभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ होजानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली।

श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेख‡ में भी, जो आजसे आठसौ वर्षसे भी अधिक पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शान्ति, एक दिव्य शक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा बचन-बलसे उनके द्वारा 'चन्द्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता-
दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि 'जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं 'पद्मावती' नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मन्त्रवचनोंसे (बिम्बरूपमें) 'चन्द्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग (धर्म) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र पुनः पुनः वन्दना किये जानेके योग्य हैं।'

❀ देखो, 'राजाबलिकथे' का वह मूलपाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ९२ पर उद्धृत किया है। इस पाठका अनुवाद मुझे वर्णी नेमिसागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

‡ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है, इसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक सम्वत् १०५० का लिखा हुआ है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन

स्वामी समन्तभद्रकी 'भस्मक' व्याधि और उसकी उपशान्ति आदिके समर्थनमें जो 'वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः' इत्यादि प्राचीन परिचय-वाक्य श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) परसे इस लेखमें ऊपर उद्धृत किया गया है उसमें यद्यपि 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है;परन्तु जिन घटनाओंका उसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय'से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समन्तभद्रद्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही, उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

"(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिरामद्राचाभिरामभीमलिङ्गस्वयंन्वादिस्तोटकोत्कीरण※रुन्द्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशः श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसदर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम् ‡"

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं०२५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समन्तभद्रके प्रधान शिष्य थे। यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥×

—विक्रान्तकौरव

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिः तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत् तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—श्रवणबेलगोल-शिलालेख

※ 'स्वयं' से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।

‡ 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ली, पृ० ३८।

× यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'की प्रशस्तिमें भी पाया जाता है।

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटा भाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समन्तभद्रसे जिनदीक्षा ली थी *; परन्तु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसीलिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचितकिया गया है कि 'इस तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि-सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलम्बनके लिये यष्टि बना हुआ है'। जान पड़ता है यह पद्य + उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे †। आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों। देवागमकी वसुनन्दिवृत्ति में मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
> सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथं।
> निष्णातं नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
> भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये ॥

यह पद्य द्व्यर्थक ‡ है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक त्र्यर्थक पद्य बहुधा ग्रन्थों

---

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस....संसारशरीर-भोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु शिवायनं गूडिय आ मुनिपरल्लिये जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि··· ।

+ इसके पहलेके 'समन्तभद्रस्स चिराय जीयात्' और 'स्यात्कारमुद्रितसमस्त-पदार्थपूर्णं' नामके दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं।

† नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्र-का शिष्य लिखा है (E. C. VIII.) ।

‡ त्र्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके

में पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धिके लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित होजाते हैं। 'अकलंक-भावकी व्यवस्था करनेवाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद-जैसे आचार्यों-द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता-जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे 'लक्ष्मीभृत्परमं' नामके पद्यमें, समन्तभद्र-के मत(शासन) को नमस्कार किया गया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय, इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगलपद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ़ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार किया है और दूसरे अर्थमें वही 'समंतभद्रदेव' परमात्माका विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने ।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति'से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें '**भेत्तारं वसुपालभावतमसः**' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावांधकारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा' का वाचक है और इसलिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समन्तभद्रस्वामी-ने भी किसी राजाके भावांधकारको दूर किया है *। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो और वही समन्तभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल'का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरह पर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परन्तु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इसलिये मैं इस पर अधिक ज़ोर

गुरु नेमिचंद्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दि-श्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

* श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावान्धकारको दूर किया था।

देना नहीं चाहता।

ब्रह्म नेमिदत्त † के 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवेद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है। साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी। परन्तु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर 'वाराणसी' (काशी-बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है ‡।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है। जहाँ तक मैंने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन मालूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओंका तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। इतिहासकालके प्रारम्भमें ही—ईसवी सन्से करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस या काशीकी छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपमें अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी। इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतन्त्र राज्यसत्ताके तौरपर कोई उल्लेख नहीं मिलता ※।

---

† ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

‡ यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥१६॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥२०॥

※ V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30-35. (विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी आफ़ इन्डिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०-३५।)

संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी परतन्त्र रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता। रही कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५०के करीब 'समुद्रगुप्त'-ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध)† का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५में परमेश्वरवर्मन्का, इसके बाद नरसिंहवर्मन् द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है ※। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंहविष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओं का राज्यक्रम ठीक पाया जाता है §। परन्तु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर —शिवकोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय, विंसेंट स्मिथ साहब ने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इन्डिया' (पृ० २७५-२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३० और ३२० का मध्य-वर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिलकुल ही अन्धकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि-जैसे

---

† शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और वह उसके राज्यका २२वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थसे मालूम होता है।

※ कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था जिसकी ओरसे 'मायिदावोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्तिकाय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओं-के अनुसार यह राजा ईसाकी १ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

§ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India) तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४७१ से ४७६।

प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परन्तु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभी तक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रन्थोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिसकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय, एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँ पर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और वह समीकरण विशेष अनुसन्धानकी अपेक्षा रखता हो। परन्तु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जा सकता है। 'राजावलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावलियों तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे मेरी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी-बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचती। इस कथा में लिखा है कि—

कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करने के लिये समर्थ (स्निग्धादि)

---

* शिवकोटिसे मिलते-जुलते शिवस्कन्दवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्ब), शिवकुमार (कुन्दकुन्दाचार्यका शिष्य,) शिवस्कन्द वर्मा हारितीपुत्र (कदम्ब), शिवस्कन्द शातकर्णि (आंध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आंध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इसलिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चल दिये। चलते चलते वे 'पुण्ड्रेन्दुनगर'† में पहुंचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध-भिक्षुकका रूप धारण किया; परन्तु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शान्तिके योग्य आहार का अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारी साधुओंको भक्तजनों-द्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्ट आहार भेंट किया जाता है, आपने बौद्ध-वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परन्तु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शान्त करनेमें समर्थ न हो सका और इस लिये आप यहाँसे भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकोंमें घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ आपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देखकर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शान्त हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिवको भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़ों जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सुपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योग-

---

† 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्दुनगर' से उत्तर बंगालके इन्दुपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपे हुए 'आराधनाकथाकोश' (श्लोक ११) में ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

बलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत होगई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जाने के कारण वह सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण पूछा। उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता, मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं। यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिङ्ग) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूँ'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए कहा—'यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्यको जरूर देखना है। समन्तभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया। राजाने 'एवमस्तु' कहकर उन्हें मन्दिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया। दो पहर रात बीतने पर समन्तभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया। वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समन्तभद्रको आश्वासन दिया और यह कहकर चली गई कि तुम **'स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले'** इस पदसे प्रारम्भ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा। समन्तभद्रको इस दिव्य-दर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये। सवेरे (प्रभात समय) राजा आया और उसने वही नमस्कार द्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही। इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारम्भ किया। जिस वक्त 'चन्द्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए **'तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं'** यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खंड खंड

होगया और उस स्थानसे 'चन्द्रप्रभ' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान् जय-कोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महासामर्थ्यवान् अव्यक्त-लिंगी कौन हैं? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

> काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिंडः।
> पुण्ड्रोण्ड्रे * शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
> वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः† पाण्डुरांगतपस्वी,
> राजन् यस्यास्ति शक्तिः, सवदतु‡ पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी॥
>
> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
> पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे,
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगवेष छोड़कर जैन निर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियोंको बादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा होगई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़ कर उसने जिनदीक्षा धारण करली ×।"

---

* संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र'—उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

† कहीं पर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका अर्थ चन्द्रमाके समान उज्वल होता है।

‡ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

× ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उनका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको पूरी तरह देखनेका मुझे अभी तक कोई अवसर नहीं मिल सका। सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने मेरी प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—"दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि 'कांची' जैसी राजधानी में अथवा और भी बड़े-बड़े नगरों शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समन्तभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थीं जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था, और इसलिये जो घटना काशी (बनारस) में घटी वह वहां भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे '**भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः**' ऐसा सूचित किया गया है, जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे यह बात भी कुछ असंगतसी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल

पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें 'पुण्ड्रेन्दुनगरे' लिखा है, परन्तु गद्यकथामें 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकानां स्थाने' की जगह 'वन्दकानां बृहद्विहारे' पाठ दिया है। १२ वें पद्यके 'बौद्धलिंगकं' की जगह 'वंदकलिंगं' पाया जाता है। शायद 'वंदक' बौद्धका पर्यायशब्द हो। 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें 'पुण्ड्रोण्ड्रे' की जगह 'पुण्ढ्रोण्ढ्रे' 'ठक्कविषये' की जगह 'ढक्कविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' इस तरह नाममात्रका अन्तर दीख पड़ता है।" ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचन्द्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इसपर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये। 'वन्दक' बौद्धका पर्याय नाम है यह बात परमात्मप्रकाश-की ब्रह्मदेवकृतटीकाके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"खवणउ वंदउ सेवडउ"—क्षपणको दिगम्बरोऽहं, वंदको बौद्धोऽहं, श्वेत-पटादिलिंगधारकोहऽमितिमूढात्मा एवं मन्यत इति।"

गरिष्ट पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करने पर भी भस्मकाग्निको शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक मैं समझता हूँ और मैंने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल-परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफ़र भी बन सकता है। इसलिये, 'राजावलिकथे' में जो पांच दिनकी बात लिखी हैं वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये है वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजा-की ओरसे उस अवसर पर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा-प्रार्थना करनेका था—दूसरे समन्तभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जाने पर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं. फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देनेकी जरूरत थी; परन्तु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं हैं—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उसमें कोई खास जिक्र है—दोनोंमें स्पष्टरूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहां पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंत-भद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था ? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत-भावसे परिचयका प्रश्न पूछे जानेपर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने-झगड़ने-के लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है ? और क्या समंतभद्र-जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती हैं ? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसर पर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्योंकि उसमें अनेक स्थानों पर समन्तभद्रके अनेक वेष

धारण करनेकी बातका उल्लेख है *। परन्तु दूसरा पद्य तो यहां पर कोरा अप्रासंगिक ही है—वह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है उसमें, अपने पिछले वादस्थानोंका परिचय देते हुए, साफ़ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कट स्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि, अब मैं इस करहाटक नगरमें आया हूँ कितनी बे-सिर-पैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्मनेमदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत करना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर, 'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः तमुवाच सः' यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्म नेमिदत्तने, राजामें जैन धर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समंतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके बाद समंतभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियां है—वहां, पद्यानुसार काँचीके बाद, लांबुशमें समंतभद्रके 'पाण्डु-पिण्ड'रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुऐ) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है,

---

* यह बतलाया गया है कि "काँचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था, लाम्बुशमें पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ; पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ; दशपुर नगरमें मृष्टभोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है। परन्तु इन्हें रहने दीजिये, सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे ❀। बहुत संभव है कि कांचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शांतिके बाद समंतभद्रने कुछ अर्से तक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो; बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मालूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो; अथवा यह भी होसकता है कि उक्त पद्य में समंतभद्रके निर्ग्रन्थमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इसलिये जिन पर कोई विशेष राय कायम नहीं की जासकती। पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओं-के क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहां कांची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्रनगर! पुण्ड्रसे वाराणसी निकट, वहां न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना, ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं। मेरी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय मालूम होती है। अस्तु, इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो कांचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक-व्याधिकी शांति आदिसे सम्बन्ध रखता है, खासकर

❀ कुछ जैन विद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डु-पिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक खंडवाक्य दिया है; जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डुपिण्डः' और दूसरे पर 'पाण्डुरागः' पद आये हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था। हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने मेरे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है।

ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ़ तौर पर कांचीमें ही भस्मक-व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

जहाँ तक मैंने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है, मुझे 'राजावलिकथे' में दी हुई समन्तभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता मालूम होती है—मणुवकहल्ली ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक-व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समन्तभद्रका गुरुसे सल्लेखनाव्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशान्तिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करनेकी प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यन्त समस्त आहार-पानादिकका त्याग करके समन्तभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चन्द्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवान्की स्तुति की समाप्ति पर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उनके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ' का नामोल्लेख, राजाके भाई 'शिवायन' का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समन्तभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं, इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं। प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा, इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित' में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर' की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ, ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए इसी तरह

पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परन्तु उनका यह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेलगोलके उस मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका 'वंद्यो भस्मक' नामका प्रकृत पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहिलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और शिलालेख शक संवत् १०६० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रप्रभ-बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथापरसे नहीं ली गई बल्कि वह समन्तभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बन्ध रखती है। दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो *। क्योंकि 'राजावलिकथे' आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं होता, और न समन्तभद्रके सम्बन्धमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे मेरा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो वाराणसी का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी सम्भावना अधिकतर काँचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समन्तभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होने पर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रन्थोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बन्ध रखता है, और इसलिये मैं यहाँ पर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझता।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समन्तभद्रके और भी बहुत से

---

* प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधार पर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित' से पहलेका बना हुआ है अतः यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावचरितमें यह बात ले ली गई हो। परन्तु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनों ही के सम्बन्धमें यह कोई लाज़िमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रन्थकर्त्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है।

शिष्य रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं है परन्तु उनके नामादिका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इसलिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्यों के नामों पर ही संतोष करना होगा।

समन्तभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका यद्यपि कोई यथेष्ट साधन नहीं हैं, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जबकि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाका ही था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वादतीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे' में तपके प्रभावसे उन्हें 'चारणऋद्धि' की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौर पर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वादविद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है * इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्था में घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करने ही को थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तम्भ होने वाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

इस प्रकार यह स्वामी समन्तभद्रकी भस्मकव्याधि और उसकी प्रतिक्रिया एवं शान्ति आदिकी घटनाका कुछ समर्थन और विवेचन है।

---

* "आ भावि तीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेलि स्याद्वाद-वादिनल आगि समाधिय् ओडेदरु ॥"

१४

समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य

स्वामी समन्तभद्रके आत्म-परिचय-विषयक अभी तक दो ही ऐसे पद्य मिल रहे थे जो राजसभाओंमें राजाको सम्बोधन करके कहे गये हैं—एक **'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताड़िता'**† नामका है, जो करहाटककी राजसभामें अपनी पूर्ववाद-घोषणाओंका उल्लेख करते हुए कहा गया था और दूसरा **'कांच्यां नग्नाटकोहं'**‡ इस वाक्यसे प्रारम्भ होता है जो किसी दूसरी राजसभामें कहा हुआ जान पड़ता है और जिसमें विभिन्न स्थानोंपर अपने विभिन्न साधु-वेषोंका उल्लेख करते हुए अपनेको जैननिर्ग्रन्थवादी प्रकट किया है और साथ ही यह चेलेंज किया है कि जिस किसीकी भी वादकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।

हालमें समन्तभद्र-भारतीका संशोधन करते हुए, स्वयम्भूस्तोत्रकी प्राचीन प्रतियोंकी खोजमें, मुझे देहलीके पंचायती मंदिरसे एक ऐसा अतिजीर्ण-शीर्ण गुटका मिला है जिसके पत्र उलटने-पलटने आदिकी ज़रा-सी भी असावधानीको

† पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काँचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

‡ काच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृ(मि)ष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशि(श)धरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन्! यस्यास्ति शक्तिः सवदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

सहन नहीं कर सकते। इस गुटकेके अन्तर्गत स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों यथाक्रम पद्योंके अनन्तर एक तीसरा पद्य और संगृहीत है, जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित, ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पंडितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

इस पद्यमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके वाक्यों, ग्रंथों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख मिलता है‡। चौथा 'पंडित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषण की तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्यकी तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः गमक (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें समन्तभद्रके यशको कवियों, गमकों, वादियों और वाग्मियोंके मस्तकका चूड़ामणि बतलाया है* और इसके द्वारा यह सूचित किया है कि उस समय जितने कवि, गमक-वादी और वाग्मी थे उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी—उनमें कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके ये चारों गुण असाधारण कोटिके विकासको प्राप्त हुए थे, और इसलिये पंडित विशेषण यहाँ गमकत्व जैसे गुण विशेषका द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नए ही

‡ देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'सत्साधुस्मरणमंगलपाठ' में 'स्वामि-समन्तभद्रस्मरण'

* कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥

प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अंगहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमन्त्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रंथोंमें **'स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः'** जैसे वाक्योंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्रविशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होने का सूचक हैं। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रंथमें **'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्'** इत्यादि पद्य (२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्ग वैद्यकविषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण **'आज्ञासिद्ध'** और **'सिद्धसारस्वत'** तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आ जाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्रवलया पृथ्वीपर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूं वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय 'मैं सिद्धसारस्वत' हूं—सरस्वती मुझे सिद्ध है।' इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धि में ही समन्तभद्रकी उस सफलता का सारा रहस्य सन्निहित है जो स्थान स्थानपर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी अथवा एक शिलालेखके कथनानुसार वीर जिनेन्द्रके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेके रूपमें वे जिसे अधिकृत कर सके थे।

अनेक विद्वानोंने 'सरस्वती-स्वैरविहारभूमयः' जैसे पदोंके द्वारा समन्तभद्रको जो सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि प्रकट किया है और उनके रचे हुए प्रबन्ध (ग्रंथ) रूप उज्ज्वल सरोवरमें सरस्वतीको क्रीड़ा करती हुई बतलाया है* उन सब

*देखो, सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ३४, ४९।

† देखो, बेलूरताल्लुकेका शिलालेख नं० १७ (E. C. V.) तथा सत्साधुस्मरणमंगल पाठ, पृ० ५१

कथनोंकी पुष्टि भी इस 'सिद्धसारस्वत' विशेषणसे भले प्रकार हो जाती है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी जिसकी अनेकान्तदृष्टिद्वारा अनन्य आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय विद्वानों को उनकी ओर आकर्षित किए हुए है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि उक्त गुटकेमें जो दूसरे दो पद्य पाये जाते हैं उनमें कहीं-कहीं कुछ पाठभेद भी उपलब्ध होता है; जैसे कि प्रथम पद्यमें 'ताडिता' की जगह 'त्राटिता' 'वैदिशे' की जगह 'वैडुशे' 'बहुभटं विद्योत्कटं' की जगह 'बहुभटैर्विद्योत्कटैः' और 'शार्दूलविक्रीडितं' की जगह 'शार्दूलवत्क्रीडितु' पाठ मिलता है। दूसरे पद्यमें 'कांच्यां' की जगह 'काँच्या' 'लांबुशे' की जगह 'लांबुसे', 'पुंड्रोड्रे' की जगह 'पिंड्रोड्रे', 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी', 'वाराणस्यामभूवं' की जगह 'वाराणस्यां बभूव', 'शशधरधवलः' की जगह 'शशधरधवला' और 'यस्याति' की जगह 'जस्यास्ति' पाठ पाया जाता है। इन पाठभेदोंमें कुछ तो साधारण हैं, कुछ लेखकोंकी लिपि की अशुद्धिके परिणाम जान पड़ते हैं और कुछ मौलिक भी हो सकते हैं। 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी' जैसा पाठभेद विचारणीय है। भट्टारक प्रभाचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्त के कथाकोषोंमें जिस प्रकार समन्तभद्रकी कथा दी है उसके अनुसार तो वह 'शाक्यभिक्षुः' ही बनता है; परन्तु यह भी हो सकता है कि उस पाठके कारण ही कथाको वैसा रूप दिया गया हो और वह 'मिष्टभोजी परिव्राट्' से मिलता जुलता 'शाकभोजी' परिवाट्का वाचक हो। कुछ भी हो, अभी निश्चितरूपसे एक बात नहीं कही जा सकती। इस विषयमें अधिक खोजकी आवश्यकता है।